॥ ॐ ॥

अध्यात्मवाद की मर्यादा

लेखक —

श्री सुमेरुचन्द दिवाकर, बी० ए० एल एल० बी० शास्त्री न्यायतीर्थ

सिवनी (मध्यप्रदेश)

(जैन शासन, चारित्र चक्रवर्ती, श्रवणबेलगोला, सदाशिव चर्चा, Nudity of Jain Saints आदि के लेखक, महाबंध आदि के टीकाकार, जैन-गजट के भूतपूर्व सम्पादक तथा World Religion Congress १९५५ जापान में प्रतिनिधि

प्रकाशक:—

राजरत्न सेठ नेमीचन्द पाण्ड्या

पी १५, कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता ७

भूमिका

जिनागम में सम्यक्त्व की अपार महिमा गाई गई है। सीता देवी ने महाराज रामचन्द्रजी को अपने सन्देश मे यह सूचित किया था कि जिस प्रकार आपने मेरा परित्याग किया इस प्रकार सम्यक् दर्शन को नहीं छोड़ना क्योंकि वह सम्यक्त्व साम्राज्य पदवी की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पचाध्यायी मे कहा है कि आचारांग आदि एकादश अंगों के ज्ञाता होते हुए भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से वह जीव मिथ्यात्वी रहता है और वह आत्मोपलब्धि से वंचित होता है।

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात परम् ॥१६६॥ उत्तरार्ध

दुनिया के समस्त जजाल का पूर्ण परित्याग करने वाले शांत परिणामी तथा उग्र तपस्वी मुनिराज अन उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त अनन्त बार गए, फिर भी सम्यक्त्वरूप आत्म प्रकाश नहीं मिल पाया। छह ढाला मे लिखा है–

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रैवेयक उपजायो।
प निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

इस प्रकार ज्ञान की महान समाराधना और चारित्र की प्रतिपालना होते हुए भी सम्यक्त्वी घातक करणलब्धिके अभाववश यह जीव मिथ्यात्व भाव से छुटकारा नहीं पाता। इस कथन के प्रकाश में यह ज्ञात होगा कि आज जो कुछ लोगों ने सम्यक्त्व को बालविनोद की वस्तु बना लिया है वह आत्मकल्याण की दृष्टि से अमंगल कार्य है। ये लोग सम्यक्त्व की साधन सामग्री से प्राय शून्य होते हुए स्वय को सम्यक्त्वी मान अपने साथियों को भी सम्यक्त्वी घोषित करते हैं। दूसरे के सम्यक्त्व के सद्भाव का पक्का निश्चय केवलज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी तथा परमावधि और सर्वावधि ज्ञानी महामुनि ही कर सकते हैं।

आज इन दिव्य ज्ञानियों का अभाव होने से दूसरे को सम्यक्त्वी कह सकना आगम के प्रतिकूल है। ऐसी आध्यात्मिक अन्धियारी के समय कुछ लोगों ने सस्ते सम्यक्त्व के प्रचार का बजार गरम कर दिया है। इस नकली सम्यक्त्व से सम्बन्ध रखनेवाले भोले जीव अपने कर्तव्य पालन से विमुख हो रहे हैं।

अतएव साधर्मी भाइयो के हितार्थ हमने प्रस्तुत रचना मे उन भ्रांत धारणाओं पर प्रकाश डाला है।

राजरत्न सेठ श्री नेमीचंदजी पांड्या ने इस रचना के द्वितीय सस्करण के मुद्रण हेतु अपने स्वर्गीय पूज्य धार्मिक पिता श्री जाति रत्न सेठ गभीरमलजी सा० पांड्या की पुण्य स्मृति में जो आर्थिक सहायता दी है उसके लिये उन्हें अनेकानेक धन्यवाद है।

१ जनवरी १९६० —सुमेरुचन्द दिवाकर

श्रीमान् जातिरत्न सेठ गभीरमलजी सा० पाण्ड्या का

संक्षिप्त जीवन परिचय

आजसे ८२ वर्ष पहले नगर कुचामन राजस्थान में स्वर्गीय जातिरत्न सेठ गभीरमलजी सा० का जन्म एक साधारण जन घरानेमे हुआ था। आपके पिता श्री चदरलालजी लक्ष्मीवान नहीं थे, फिर भी समाज के सम्मानित व्यक्तियो मे से थे। सेठ गभीरमलजी तीन भाई थे, सबसे बडे भाई श्री चैनसुखजी एव छोटे भाई मदनचन्दजी थे।

सवप्रथम श्रीमान् सेठ चनसुखजी सा० अपनी ६ वर्ष की उम्र मे ही कुचामन छोडकर बगाल के कूचबिहार नामक नगर में अपने पूज्य काकाजी मांगीलालजी के पास व्यापार हेतु पधारे और आप बाद में कलकत्ते आगये। इसके कुछ दिन बाद ही सेठ सा० गभीरमलजी को भी जन्मस्थान छोडकर अपने बडे भाई सा० के पास विशाल नगर कलकत्ते जाना पडा। इसी बीच सेठ साहेब के पिता श्री जो कि तीन भाई थे, जिनमें मागीलालजी आपके पिता से छोटे द्वितीय भ्राता थे, वे अपने सुपुत्र प्रभुलालजी को अल्पावस्था मे ही छोडकर स्वर्गवासी होगये। उनका भार भी इन्हीं लोगो पर पडा परन्तु आपने धयपूवक यह भार ग्रहण कर लिया। सेठ सा० के पिता श्री चदरलालजी सा० भी सेठ साहब की अल्प आयु में ही स्वर्गवासी होगये थे। पश्चात् कलकत्ते मे दोनों भ्राता सेठ हणुतमलजी हरखचन्दजी के फर्म मे दलाली का काम करने लगे। कुछ दिन बाद ही अपने कनिष्ठ भ्राता सेठ श्री मदनचन्दजी को भी अपने पास ही बुलवा लिया। बाद मे आप तीनो ही उक्त फम मे हिस्सेदार भी हो गये। तीनों भाई कमठ तो थे ही, धीरे धीरे लक्ष्मी इनकी अनुगामिनी हो चली। कई वर्ष उक्त फर्म में कार्य करने के बाद तीनों भाइयों ने मिलकर चनसुख गभीरमल नामका फर्म स्थापित किया।

इस फम द्वारा आप लोगों ने धीरे धीरे काफी उन्नति की और भारत वर्ष ही नहीं, विदेशों में भी आपके फमने काफी ख्याति प्राप्त की। कई

वर्षों बाद चांदमल गंभीरमल फर्मसे सेठ मदनचन्दजी अलग हो गये एवं उन्होंने अपना फर्म मदनचन्द प्रभुलाल नाम से स्थापित किया। और दोनों फर्म सुव्यवस्थित रूपसे चलते रहे, सं० १९९४ में मदनचन्दजी से प्रभुलालजी भी अलग होगये परन्तु भाइयोंमें प्रेम इस तरह रहा कि–कोई भी व्यक्ति इन्हें अलग नहीं समझता था।

सेठ गंभीरमलजी का विवाह छोटी उमर में ही हो गया था। प्रथम पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन करीब ३० वर्ष तक बिताया और आपके कई पुत्र पुत्रियाँ हुई, पर दो पुत्रियाँ व एक पुत्र ही जीवित रहे। सेठ सा० का ४० वर्ष की आयु में द्वितीय विवाह हुआ और उससे भी कई सतान हुई। द्वितीय पत्नी से वर्तमान में ३ पुत्र व ३ पुत्रियाँ मौजूद हैं। सब मिलाकर सेठ सा० के चार पुत्र, पांच पुत्रियाँ मौजूद है। आपने अपने ज्येष्ठ पुत्र रा‌जरत्न सेठ नेमीचन्दजी पाटण्या को अपने कनिष्ठ भाई मदनचन्दजी को दत्तक (गोद) दे दिया और द्वितीय पुत्र श्रीमान् सेठ महावीर प्रसादजी को अपने ज्येष्ठ भ्राता दानवीर जातिरत्न सेठ चांदमलजी को दत्तक (गोद) दे दिया। बाकी २ पुत्र श्रीमान् सेठ सुमेरमलजी व पूनम चन्दजी सेठ साहेब के उत्तराधिकारी हैं।

सेठ साहेब की प्रकृति यों तो सरल थी पर किसी बात या धर्म, समाज के विरुद्ध कोई कार्य करना चाहता तो उन्हें किसी प्रकार भी सह्य नहीं था। वे धर्मात्मा और समाजसेवी थे उन्होंने अपने जीवन में लाखों रुपये दान पुण्य मे खर्च किये। ऐसा कोई तीर्थस्थान व अतिशय क्षेत्र नहीं, जहाँ चैनसुख गंभीरमल के नाम से अर्थ न लगा हो। पावागढमें मन्दिर, व खण्डगिरी की धर्मशाला, अपने जन्म स्थान में जैन पाठशाला, औषधालय आदि की स्थापना की, तथा अपने जीवनकाल में ४० वर्ष तक उन्हें चलाते रहे। प्रातः स्मरणीय आचार्यकल्प श्री १०८ मुनि चन्द्रसागरजी महाराज जब राजस्थान में पधारे तब उनका चातुर्मास कुचामन में करवा कर एक मेला भी भरवाया, उसी समय सेठ साहेब की इच्छा हुई कि–ऐसे पूज्य तपस्वी के स्मरणार्थ कोई ऐसी सस्था की स्थापना होनी चाहिये, जिससे जन–कल्याण होता रहे। इसी उद्देश्य से एक मकान आपने कुचामन में चन्द्रसागर औषधालय नाम से खरीदा तथा दो लाख का दान

भी निकाला जिसके शेयर भी खरीद लिए तथा विद्यालय और चन्द्रसागर औषधालय का ट्रस्ट भी कर दिया जिसके सात ट्रस्टी कायम कर दिये। कुचामन मे तेरापथ आम्नायके मन्दिरजी बनाने में भी आपने विपुल धन राशि खर्च की। तथा अपनी धनराशिसे कई शास्त्रोंको प्रकाशित भी कराया।

मुनि श्री १०८ चन्द्रसागरजी के आगमनके बाद कई मुनिराज त्यागियोंका चातुर्मास कुचामन मे हुआ, एव उनकी वैय्यावृत्य आपने की। सेठ साहेब धर्म व आगममें अटूट श्रद्धा रखते थे। सेठ साहेब निर्भीक प्रकृतिके थे। कुचामन और आसपास के ग्रामों में जब ब्राह्मणों द्वारा विवाह सस्कार कराये जाते थे तब धार्मिक जागरूकताके नाते आपने सर्वप्रथम अपनी पुत्रीका विवाह जैन पद्धति से कराया उससमय ब्राह्मणोंने काफी उपद्रव किया, पर आपने धैर्य के साथ सबको निपटाया और अपनी बातपर कायम रहे। तबसे राजपुताना के जैनियों में जैन पद्धति से विवाह होने लगे।

समाजमे किसी तरह की शिथिलता व आगम विरुद्ध कार्य न हो इसके लिए आप हमेशा जागरूक रहते थे। धर्म व समाज पर किसी तरह की विपत्ति आती तो सेठ साहेब तन मन धनसे उसे दूर करने मे कभी पीछे नहीं हटते थे। आप भा० दि० जैन महासभा के गया (बिहार) अधिवेशन के सभापति हुये थे तथा महासभा के ट्रस्टी भी थे, एव आजीवन प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्य भी रहे। भा० खडेलवाल दि० जैन महासभा को भी जो निर्जीव हो चुकी थी उसे भी सँभालकर जीवनदान दिया था। उसके द्वारा धार्मिक तथा सामाजिक कार्य भी काफी किया।

आपको अपने जीवनकाल मे ही सन् १९३१ में कनिष्ठ भ्राता श्री मदनचदजी का व सन् १९४२ में ज्येष्ठ भ्राता श्री धनसुखजी का एव सन् १९४३ मे अपनी द्वितीय धर्म पत्नी का असह्य वियोग सहन करना पडा। धीरे धीरे आपकी धार्मिक भावनायें वृद्धिगत होती गई और आपने आचार्य श्री १०८ श्री वीरसागरजी महाराज से व्रत धारण किये। आप अत समय मे पाचवी प्रतिमा से विभूषित थे। जब कुछ दिनों पहले आप आगरा पधारे तो वहीं आपका स्वास्थ्य बिगड गया और अशक्त होगये,

पर आप दैनिक धार्मिक कार्य, सामायिक आदि नियम पूर्वक करते रहे और हमेशा शास्त्र तथा भगवत् भजन करते रहे, जब खुद की शक्ति नहीं रही तो उनके पास जो भी रहता उससे सुनते, हमेशा स्वाध्यायादि मे ही अपना अन्त समय बिताया। आप अपने जीवन काल के कुछ वर्ष पहले बडे भाई चैनसुखजी से अलग होगये थे और आपके फर्म का नाम गंभीरमल महावीरप्रसाद था। और आपने कई जैन भाई सगे सम्बन्धियों को अपने पास रखा तथा उन्हें कार्यदक्ष बनाया तथा आज भी उनके द्वारा उनके पास रहकर कार्यदक्ष होकर सभी के लाडले भी हुवे और अलग होकर सुखसे जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

आपकी जन कल्याण सेवाओं से खुश होकर श्रीमान् हिजहाइनेस महोदय जोधपुर ने तीन पीढ़ी तक मय औरतो के पैरमें स्वर्ण प्रदान किया तथा पालकी सिरोपाव भी प्रदान किया था। श्रीमान् किशनगढ हिज हाईनेस द्वारा भी अपनी गद्दीनशीनी के वक्त आपको तीन पीढी पैर में सोना मय औरतोंके देकर सम्मानित किया था। आपके सभी पुत्र योग्य हैं। अब आपके फर्म का नाम गभीर होजियरी मिल है। आपने कलकत्ते तथा अपने जन्म स्थान में काफी मकानात बनवाये जो कि अद्वितीय हैं।

आपको भा० ख० महासभा ने नावों अधिवेशन में जातिरत्न की उपाधि प्रदान की थी।

मुझे भी आपके साथ बहुत समयतक सामाजिक कार्योंमें भाग लेनेका अवसर प्राप्त हुआ था। आज हमारे बीच श्रीमान् सेठ साहेब नहीं हैं परतु आपके द्वारा किये हुये धार्मिक एव सामाजिक कार्य चिरस्मरणीय रहेंगे और वे चिरकालतक आपकी स्मृतिको बनाये रखेंगे। ऐसे धार्मिक महान व्यक्ति के अभावसे समाज को जो अपार क्षति हुई है वह भुलाई नहीं जासकती।

कमल प्रिंटर्स, मदनगज
ता० १-१-६०

निवेदक—
नेमीचन्द पाटनी(?)...

अध्यात्मवाद की मर्यादा

आत्मार्थी सत्पुरुषों के लिये विचारणीय विषय

(१) हम लोग गौतम गणधरका 'मंगलं गौतमो गणी' यह पूजते हैं। उनके द्वादशांगवाणी को निबद्ध करते समय सर्व प्रथम स्थान 'आचारांगसूत्र' को दिया है, जिसमें अहिंसामय जीवन की विशेष व्याख्या है। आत्मतत्व का निरूपण करनेवाले पूर्व का नाम 'आत्मप्रवाद' है। यह 'दृष्टिवाद' नामके बारहवें अंग का भेद रूप है। आचारांग को प्रथम स्थान प्रदान करना तथा आत्मप्रवाद समान समय (आत्मा) का निरूपण करनेवाले शास्त्र को द्वादशम अंग में रखना क्या यह नहीं सूचित करते कि पहले जीव का ध्यान आचारांग पर जाना चाहिये ?

श्रावकाचार का निरूपण करनेवाला सूत्र 'उपासकाध्ययन' कहा है। 'सप्तम उपासकाध्ययनम्' यह पाठ पूजामें आया है। इससे श्रुतकेवली की यह दृष्टि स्पष्ट होती है कि 'आचार प्रथमो धर्म'।

(२) आत्म तत्व का निरूपण करनेवाला अनुयोग द्रव्यानुयोग है। रत्नत्रयधारी तीर्थंकरादि का सच्चे चरित्ररूप इतिहास का कथन करनेवाला प्रथमानुयोग शास्त्र है। द्वादशांग वाणी की चार अनुयोगों में रचना करते समय श्रुतकेवली द्वारा प्रथमानुयोग को प्रथम स्थान देना सूचित करता है कि द्रव्यानुयोग के अभ्यास को प्राथमिकता देना श्रुतकेवली की दृष्टि के विपरीत है।

(३) स्वामी समंतभद्र ने प्रथमानुयोग को बोधि तथा समाधि का भण्डार कहा है। उसमें सच्ची बातों का निरूपण है। काल्पनिक कथाओं से वह परिपूर्ण है, यह धारणा सम्यक्त्वी की नहीं है, क्योंकि वह उस कथन को जिनेंद्र सर्वज्ञ प्रणीत मानता है। उस प्रथमानुयोग में महावीर भगवान बननेवाले पुरुरवा भील को मांसादि पापाचरण का त्याग कराने

का कथन है। श्रेणिक रूप आगामी महापद्म तीर्थंकर होने वाली आत्मा को खदिरसार भील के रूपम कहकर उसे भी मास–(केवल काकमास) के त्याग का उपदेश दिया है। अर्थात् चरित्रशास्त्रो में धमतत्व से अपरिचित आत्मा के हितार्थ प्रारम्भ मे जीवहिंसादि हीन प्रवृत्तियो के त्याग का उपदेश दिया है। चारित्र पालनाथ प्रेरणा प्रदान की गई है। इसी प्रकार आज पश्चिम के विलासिता प्रचुर प्रवाह में डूबते हुए जीवों को सर्व प्रथम 'महा पापो' का त्याग करना वक्तव्य है। उनमें प्रथम अवस्थामें आत्मतत्व को समझने की योग्यता नही दिखती है। वस्तुत निश्चय सम्यक्त्व सिंहिनी के दूध सदृश है। वह सुवर्ण सदश उज्वल जीवन वाले पात्र में रहता है।

(४) पुद्गल की दृष्टि से दुग्ध तथा चूना समान हैं किन्तु वे भोज्य की दृष्टि से भिन्न हैं। इसी प्रकार कम के भेद होने से पुण्य और पाप समान है किन्तु शुद्धोपयोग की पात्रता रहित जीव के लिये पाप शत्रु है। पुण्य शत्रु नही है। समतभद्र स्वामी ने कहा है 'पाप अराति धम ब धु'— पाप शत्रु है। धम ब धु है। पुण्य को शत्रु नही लिखा है। मुनियो की दृष्टि में जो स्थान पुण्य का है, वह परिग्रही गृहस्थ की दृष्टि मे पुण्य का नही होगा। स्त्रीपना जननी तथा भार्या में समान रूप से होते हुए भी भार्या की तरह जननी में भोग्यता नही है। वृक्षत्व विषवृक्ष तथा आम के वृक्ष में है, किन्तु उनमे सवथा एकत्व नही है। आम्र फल ग्राह्य है। विष वृक्ष का फल अग्राह्य है। वृक्ष का फल होने से सभी को एक रूप मानना उचित नही है। यदि पाप के समान पुण्य को माना जाय, तो यह एकान्त लौकिक जीवन के लिए कष्टदायी बन जायगा। दोनो मे कथंचित् समानता होते हुए भी विषमता है।

(५) तीर्थंकर प्रकृति तो पुण्य कर्मों के अध्यक्ष समान है। उसके फल का अनुभव करनेवाले चौबीस तीथकरो तथा पद्रह कमभूमियो की अपेक्षा एक सौ सत्तर जिनेन्द्र तीर्थंकर व पद के कारणरूप षोडश-भावनाओ की पूजा तथा आराधना क्या पुण्य की पूजा नही है? यदि है तो पुण्य की निंदा का एकान्त क्या अहितप्रद नही है?

'पाप क्षयोऽस्तु' तेरे पाप का क्षय हो, ऐसा शूद्र को निर्ग्रंथ गुरु आशीर्वाद देते हैं। 'पुण्य क्षयोऽस्तु' कहना अभद्र वाणी है। अशोभनीक कथन है। अतः पुण्य पाप में भिन्नता का भी मानना आवश्यक है।

(६) जिनेन्द्र तीर्थंकर की स्तुति में भगवान को "पापापेतो" (पाप से रहित), 'पुण्यापुण्यनिरोधक (पुण्य तथा पाप के निरोधक) कहने के साथ उनको सहस्रनाम पाठ में पुण्यराशि कहा है यथा —

> समन्तभद्र शान्तारिधर्माचार्यो दयानिधि ।
> सूक्ष्मदर्शी जितानंग कृपालुधर्मदेशक ॥
> शुभयु सुखसाद्भूत पुण्यराशिरनामय ।
> धर्मपाला जगतपालो धर्मसाम्राज्य नायक ॥

जब भगवान पुण्यराशि कह गए हैं तब पुण्य का मल एव विष्टा कहने से भगवान के लिए जैनत्व के शत्रुओं द्वारा कथित मिथ्यात्वियों समान भाषा हो जाती है। ऐसी भाषा जिनेन्द्र का भक्त सम्यक्त्वी कैसे कहेगा ? यह तो तीर्थंकर को गालीदान सदृश दोषप्रद हो जाती है।

(७) व्यवहार तथा निश्चय ये दोनों नय स्वानुभूति के क्षण में छूट जाते हैं। दोनो अनुपयोगी हो जाते हैं। फिर भी व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं एवं निश्चय को भूतार्थ माना गया है। यदि व्यवहार कथंचित् अभूतार्थ न हो और वह सर्वथा मिथ्या होगा तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। निश्चयनय की दृष्टि से जीवके गुणस्थान, मार्गणा स्थान नहीं है। उनका कथन व्यर्थ हो जायगा, निश्चय कहता है पुद्गल परमाणु भूतार्थ है। किन्तु स्कन्ध तो व्यवहारनय का विषय है। अतः व्यवहारनय द्वारा गृहीत होने से वह मिथ्या है तब तो स्कन्ध की विभाव पर्याय शब्द भी मिथ्या होगा। स्कन्ध रूप शब्द पुद्गल की विभाव पर्याय है। कहा भी है —

'सद्दो बन्धो सुहुमो थूलो पुग्गल दव्वस्स पज्जाया।'

भगवान की दिव्यध्वनि शब्दात्मक है, वह भी स्कन्धरूप विभावपर्याय स्वरूप होने से मिथ्या हो जायगी। ऐसी अवस्था मे चारो अनुयोग रूप द्वादशांगवाणी भी असम्यक होगी। अध्यात्म साहित्य भी अभूतार्थ हो

जायगा। इसको स्वीकार करने पर मोक्षमार्ग कैसे चलेगा ? एकान्तवादी से यह पूछना होगा कि सर्वथा मिथ्या माने गए व्यवहार से सम्यक्ज्ञान युक्त सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होगा ? अतएव कथचित् पक्ष का शरण ग्रहण किए बिना काय नही बनेगा। यदि समयसार को सत्य मानना है, तो व्यवहार नय को मिथ्या कहना 'मैं मौनी हूँ' इस प्रकार कथन सदृश बात होगी। अत स्याद्वाद की शरण ग्रहण करना श्रेयस्कर है। बाधा रहित भी है।

(८) यथार्थ में सम्यग्दशन पूर्वक चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है, उसके बिना वह सम्यक्चारित्र नही रहता है, फिर भी सदाचार की जीवन में उपयोगिता स्वीकार करनी चाहिए। इसम हित है।

जीवन में कष्ट सहन करने का अभ्यासी सयमी व्यक्ति यदि सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तो उसका चारित्र स्वयमेव (autometically) सम्यक् विशेषण समन्वित हो जाता है। इस प्रसग में यह बात विचारणीय है। आगम में कहा है केवली तथा श्रुतकेवली के समीप उत्पन्न होनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व अब उत्पन्न नही होता किन्तु उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व मात्र पैदा होते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षामे गाथा २५५ मे कहा है कि ये दोनो सम्यक्त्व असख्यातवार उत्पन्न होकर नष्ट होत हैं। "गेह्णदि मुचदि जीवो वे सम्मत्ते असखवाराओ" उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त कही गई है। सम्यक्त्व के बाद चारित्र धारण करना चाहिए यह वाक्य आगम में आता है। इसका एकान्त पक्ष मानने वाले से पूछना है कि किसी ने सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् महाव्रत धारण कर लिए और वह भावलिंगी मुनि बन गया। पश्चात् मान लो कि दो एक दिन म उसका सम्यक्त्व छूट गया। अत वह द्रव्य-लिंगी हो गया। उसको क्या अब अपने महाव्रतो का परित्याग करना चाहिए ? मनस्वी मानव अङ्गीकृत व्रत का त्याग मृत्यु से भी बुरा मानते है।

अब यदि सम्यक्त्व के अभावम व्रत का सद्भाव त्याज्य नही है, अहितकर नही है तो प्रारम्भ में सम्यक्त्वकी उपलब्धि नही हुई और कोई

अहिंसापूर्ण आचरण आरम्भ करे, तो उसे क्यों अहितकारी कहेंगे ? इसका भाव यह है कि बाधक कारण विशेष से यदि सम्यक्त्व रूप श्रेष्ठ निधि को पाने का सौभाग्य न मिला, तो भी जीव को कुगति मे पतन कराने वाली हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहमयी पाप प्रवृत्ति के त्याग करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। सम्यक्त्व की प्राप्ति तो चारो गतियो में होती है, किन्तु अमगल आचार को त्याग कर मगलमय सदाचरण की परिपालना नर जन्म की ही विशेषता है। नरभव रत्नद्वीप सदृश है। उसमें जाकर सदाचार रूप निधि को लेना विवेकी का कर्तव्य है। सम्यक्त्वी गृहस्थ देशव्रत के कारण १६ स्वर्ग तक जाता है, दिगम्बर मुनि अभव्य भी उससे ऊपर ग्रैवेयक तक जाता है। अत द्रव्याचरण सर्वथा निस्सार नहीं है।

(९) सम्यक्त्व के रस पान का प्रेमी भद्र परिणामी व्यक्ति सत्प्रवृत्तियो के द्वारा जन्म को व्यतीत करता हुआ कुगतियों के कुचक्र से बच कर देव पर्याय को प्राप्त करता है। वहाँ से वह विदेह जाकर विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान आदि के साक्षात् उपदेश को सुनकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। नन्दीश्वर आदि की अकृत्रिम मूर्तियो के दर्शन द्वारा मिथ्यात्व के विकार से विमुक्त हो सकता है।

(१०) समयसार म निश्चयनय को भूतार्थ कहा गया है और उसका आश्रय लेने वाला जीव सम्यक्त्वी कहा गया है। कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है —

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूय यमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

यहाँ व्यवहारनय को यदि सर्वथा मिथ्या मानेगे तो कुन्दकुन्द स्वामी की वाणी में पूर्वापर अविरोधपना नहीं रहेगा। जैसे समयसार में लिखा है कि केवली भगवान के शरीर की स्तुति परमार्थ स्तुति नहीं है। यह स्तुति व्यवहारनय का विषय है। केवली के गुण का स्तवन यथार्थ मे उनकी स्तुति है।

त णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणाहि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्च केवलि थुणदि ॥ समयसार ॥२६॥

किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने शीलपाहुड के प्रारम्भ मे वीर भगवान की जो स्तुति की है वह उनकी शरीर–स्तुति रूप है । यदि व्यवहारनय की विषयरूप देह स्तुति सर्वथा मिथ्या हो, तो आत्मनिर्मलता के लिये किए गए मगलाचरण में कुन्दकुन्द स्वामी व्यवहार स्तुति का आश्रय क्यों ग्रहण करते ? शीलपाहुड की यह गाथा मनन करने योग्य है ।

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमल-समप्पाव ।
तिविहेण पणमिऊण सीलगुणाण निसामेह ॥ १ ॥

मैं विशाल नेत्रवाले और लाल कमल के समान कोमल चरणवाले श्री वर्द्धमान स्वामी को मन, वचन, काय से नमस्कार करके शील के गुणो को कहता हूँ ।

यहाँ 'विशालनयन' तथा 'रक्तोत्पल कोमल समपादम्' विशेषण स्पष्टतया देहाश्रित हैं । अत एकान्त पक्ष अयोग्य है ।

(११) आत्मा की चर्चा करना जैसा सरल है उस प्रकार आत्मोपलब्धि सरल नहीं है । विषयो से विरक्ति भी स्वोपलब्धि के लिए आवश्यक है । मोक्ष पाहुड मे कहा है —

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्ख ।
भाविय–सहाव–पुरिसो विसएसु विरज्जए दुक्ख ॥६५॥

अर्थात्—आत्मा कठिनता मे जानी जाती है । आत्मा को जान कर उसकी भावना करना और भी कठिन है । आत्मा की भावना करने वाला भी बडी कठिनता से विषयो से विरक्त होता है ।

इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि जीव को विषयासक्ति त्यागने के लिए भी पर्याप्त प्रयत्न करना आवश्यक है । आत्मोपलब्धि के लिए विषयो से विरक्ति आवश्यक है । कुदकुन्द स्वामी के ये शब्द विचारणीय हैं । मोक्ष पाहुड में कहा है —

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाण ॥ ६६ ॥

जब तक मनुष्य विषयों में पगा रहता है, तब तक वह आत्मा को नहीं जानता है। विषयों से विरक्त जो योगी है वह आत्माको जानता है।

सम्यक्त्वी का चिह्न भी वैराग्य भाव कहा गया है।

(१२) आजकल शुद्ध भाव की चर्चा चला करती है, किन्तु शुक्ल ध्यान का अभाव होनेसे शुद्धभाव की प्राप्ति असभव है। भाव पाहुड में कहा है —

भाव तिविहपयार सुहासुह सुद्धमेव णायव्व।
असुह च अट्टरुद्द सुह धम्म जिणवरिंदेहि ॥७६॥

अर्थात् अशुभ, शुभ तथा शुद्ध रूप मे तीन प्रकार के भाव हैं। आर्त ध्यान, रौद्रध्यान तो अशुभ भाव हैं। धर्मध्यान शुभ भाव है।

इस पचमकाल में निग्र थ मुनि के धमध्यान का सद्भाव माना गया है। शुक्लध्यान के योग्य सहनन का अभाव है। मोक्षपाहुड में कहा है —

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाण हवेइ साहुस्स।

अर्थात् इस पचम काल में भरतक्षेत्र में मुनिराज के धमध्यान होता है। यह भी लिखा है —

अज्जवि ति-रयण-सुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इदत्त।
लोयतिय देवत्त तत्थ चुआ णिव्वुदि जति ॥ ७७ ॥

आज भी रत्नत्रय से विशुद्ध आत्मा स्वरूप का ध्यान करके इन्द्र पदवी तथा लौकान्तिक पदवी को प्राप्त करके पश्चात् चय करके मोक्ष को जाते हैं।

तिलोयपण्णत्ति म कहा है कि दिगम्बर मुनिराज ही लौकान्तिक देव होते हैं।

जिस प्रकार अपने विशेष अशुभ भावों से श्रेणिक महाराज के जीव का नरक गमन हुआ, उसी प्रकार शुभ परिणामो के कारण अन्य जीव को स्वग में जाना पडता है।

(१३) आजकल भरतक्षेत्र में वज्रवृषभ नाराच-सहनन नही होता है, अत शुक्लध्यान का अभाव है। इससे निर्वाण की भी प्राप्ति नहीं होती

है। इसलिए विचारशील मानव कुगति गमन के कारणों का परित्याग करता है। स्वय कुन्दकुन्द स्वामी यह भावना भाते थे 'इच्छामि भंते ! दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमण जिणगुण-सम्पत्ति होउ'— (दशभक्ति) भगवन् ! मेरी यह कामना है कि मेरे दुःखो का क्षय हो, कर्मक्षय हो, बोधिलाभ हो, मनुष्य तथा देवगति रूप सुगतियों में गमन हो तथा जिनेन्द्र भगवान के गुणरूप सपत्ति की प्राप्ति हो। सभी निर्ग्रंथ मुनिराज उक्त प्रकार की भावना करते हैं।

(१४) कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—"पुण्ण सुगइ हेउ"—पुण्य सुगति का कारण है। "पुण्णक्खयेण णिव्वाण"—पुण्य के क्षय से निर्वाण प्राप्त होता है। यह प्रतिपादन एकान्त रूप से नही कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—"सद्वेद्य-शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्"—अर्थात् साता वेदनीय शुभायु, शुभ नाम तथा शुभ गोत्र ये पुण्य कर्म हैं। मोक्ष जानेवाले जीव के लिए उच्चगोत्र, मनुष्यायु, वज्रवृषभ नाराच सहनन आदि पुण्य प्रकृतियों का सन्निधान आवश्यक है। बिना उक्त सामग्री के मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। अत पुण्य की उपयोगिता मोक्षमार्ग में सर्वथा भुलाना न्याय नही है। पापानुबन्धी पुण्य हेय है। पुण्यानुबन्धी पुण्य को हेय नही कहा है। आश्चर्य है कि परमार्थी रूप से प्रसिद्ध लोग प्राय पुण्य के फल रूप धन, वैभव, यश आदि की अभिलाषा करते हैं, किन्तु उनके बीजरूप पुण्य का पानी पी-पीकर कोसा करते हैं। यह अकृतज्ञतापूर्ण कार्य उचित नही है।

(१५) कहा जाता है मोह के भेद शुभ रागभाव से पुण्य प्राप्त होता है किन्तु मोहनीय कर्म घातिया है और घातिया कर्म पाप प्रकृति है। अत पापात्मक रागभाव को शुभराग कहना योग्य नही है किन्तु इस सम्बन्ध में मूलाचार के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, जिनमे जिनेन्द्र भक्ति, श्रुतभक्ति आदि को शुभ राग कहा है। आगम के ज्ञाता का कर्तव्य है कि योग्य अपेक्षा का आश्रय ले, विरोध का परिहार करे।

> अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु।
> धम्मम्हि य जो राओ सुदे य जो बारसविधम्हि ॥५७०॥

आयरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे ।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वसु ॥५७१॥

अर्थात् राग एव द्वेष रहित अरहतो में राग (भक्ति), धर्म म राग, द्वादशाग वाणी मे राग, आचार्यों में राग, मुनियों में राग, उपाध्याय में राग, महान् चारित्रधारी म राग इन सबमें किया गया राग प्रशस्त राग है।

मूलाचार में लिखा है कि यह रागपूवक भक्ति निदान नही है।

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झति तह य भत्तीए ।
तो भत्ति रागपुव्व वुच्चइ एद ण हु णिदाण ॥५७२॥

अर्थात्—उन अरहतादिकों की अभिमुखता तथा भक्ति होने से इष्ट कार्य सिद्ध होते हैं। अत वह भक्ति रागपूवक की गई कही जाती है। वह ससार के कारणरूप निदान नही है।

यह कथन करना उचित है कि यह भक्ति अरहतादि पवित्र आयतनो से सम्बधित रहती है तथा उससे विशुद्ध परिणाम होते हैं अत उस राग को यहाँ प्रशस्त राग कहा है। यह बात स्मरण योग्य है कि वास्तविक वीतराग अवस्था अन्तर्मुहूर्तपयन्त उपशान्त-कषाय-गुणस्थान मे प्राप्त होती है पश्चात् कषायोदय वश वह जीव नीचे गिरता है। क्षीणकषायरूप बारहवें गुणस्थान म स्थायी वीतरागता प्राप्त होती है। शुक्लध्यान के बिना वीतरागता की उपलब्धि नही होती यह आगम में माना है।

(१६) *वीतरागता के कारणरूप शुद्धभाव का इस दु पमा काल मे* अभाव होने से आत्मार्थी सत्पुरुष के लिए अशुभराग तथा द्वेष भाव हेय हैं और वतमान अवस्था में शुभराग ग्रहण करने योग्य है। सामान्य दृष्टि से सभी राग समान हैं, किन्तु विशेष अपेक्षा से उनमें भिन्नता भी है। अमृत और विष पुद्गल तत्त्व की अपेक्षा समान होते हुए भी विशेष अपेक्षा से विष हेय है और अमृत उपादेय है। पानी और पेट्रोल दोनो द्रव पदार्थ की अपेक्षा समान हैं, किन्तु उनके स्वभाव आदि में महान् अन्तर है।

(१७) रागभाव अनात्मपरिणति है। उसके दोषों का ज्ञान होने मात्र से वह नही छूटती। उसके त्यागने योग्य निर्मलता की आजकल उपलब्धि

असभव है। आज तो वीतराग भगवान तथा वीतराग वाणी में अनुराग रखने का पथ ग्रहण करने योग्य है। जो व्यक्ति अर्हंतादि की भक्ति को शुभराग कहकर छोड़ता है वह नरकगति, तिर्यंचगति में निमित्त पडने वाली अशुभरूप सक्लेश परिणति को अपनाता हुआ अपना अहित करता है। महाज्ञानी मुनिराज भी भगवान के समीप शुभरागरूप जिनेन्द्र भक्ति की याचना करते हैं —

याचेऽहं याचेऽहं जिन ! तव चरणारविंदयोर्भक्तिम् ।
याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव ।। (दशभक्ति पाठ)

अर्थात्—हे जिन भगवान ! मैं आपके चरणकमलों की भक्ति की याचना करता हूँ। पुन वही याचना करता है, फिर भी उसी भक्ति की याचना करता हूँ। मैं बारम्बार उसी भक्ति की याचना करता हूँ। फिर भी उसी भक्ति की याचना करता हूँ।

(१८) वीतराग प्रभु की भक्ति से विषय भोगों की आसक्ति न्यून होती है तथा जीव स्वोन्मुख बनने की पात्रता को प्राप्त करता है। जगल म उत्पन्न लकडी कुल्हाडी मे लगकर जगल का नाश करती है, इसी प्रकार मोहनीय कमरूप राग परिणाम, वीतराग का आश्रय ले कर्मों के क्षय करन की क्षमता प्राप्त करता है।

(१९) आत्मध्यान के समय में यह जीव कुछ क्षणपर्यन्त अन्तर्मुख बनता है, किन्तु उसके पश्चात् वह शुभोपयोग का आश्रय ग्रहण करता है। यथार्थ में श्रेष्ठता तो शुद्धोपयोग म है, किन्तु उसके अभाव मे शुभोपयोग का शरण ग्रहण करना उचित है, अन्यथा अशुभभावरूप अग्नि ज्वाला मे जीव का पतन अवश्यम्भावी है। कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसारमे कहा है--

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स सचय जादि ।
असुहो वा तध पाव, तेसिमभावे ण चयमत्थि ।।१५६।।

यदि शुभोपयोग के परिणाम हैं, तो जीव के पुण्य का बन्ध होता है, अथवा यदि अशुभोपयोग है, तो पाप का बन्ध होता है। शुभ तथा अशुभ उपयोगों के अभाव होने पर कर्मबन्ध नहीं होता है।

(२०) आजकल सम्यक्त्व की चर्चा करने में चतुर लोग अपने आपको तथा अपने साथियों को सम्यक्त्वी का प्रमाणपत्र प्रदान कर तथा दूसरों को मिथ्यात्वी मानकर अभिमानके शिखर पर चढ़े हुए दिखाई पड़ते हैं। उनको यह बात सोचना चाहिए कि श्रुतज्ञान की अभिवृद्धि का सम्यक्त्व के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। एकादशांग का ज्ञाता व्यक्ति तक मिथ्यात्वी रह सकता है तथा तुष-माष भिन्न है—दाल और छिलका जैसे पृथक है, उसी प्रकार मेरी आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म से मुक्त है, ऐसी दृढ़ प्रतीतिवाला शिवभूति सदृश अल्पज्ञानी व्यक्ति सम्यक्त्वी होकर शीघ्र केवली बन जाता है। पंचाध्यायी में लिखा है कि सम्यक्त्व तत्वतः सूक्ष्म है। वह वाणी के अगोचर है (४००)। उसमें यह भी कहा गया है —

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधि-स्वान्त पर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥ उत्तरार्ध

सम्यक्त्व यथार्थ में सूक्ष्म है। वह केवलज्ञान के गोचर है। वह परमावधि सर्वावधिरूप अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानगोचर है।

(२१) आज पूर्वोक्त अवधिज्ञानी तथा मनःपर्ययज्ञानी मुनिराज तथा केवली भगवान का इस क्षेत्र में दर्शन नहीं होता है। अतएव मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान के धारी द्वारा दूसरे के सम्यक्त्व या मिथ्यात्व का सद्भाव निश्चित् रूपसे निरूपण करना सम्भव नहीं है। सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर जीव में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे स्थूल रीति से उस आत्मज्योति की उपलब्धि का अनुमान किया जाता है। निश्चयात्मक निरूपण नहीं किया जा सकता।

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि सत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात् परम् ॥प०उ० १६६॥

सम्यक्त्वी के अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के दूर होने पर उच्च शान्ति उत्पन्न होती है। उसे प्रशमभाव कहते हैं। वह संसार के भोगों से उदास होता है और धर्म के कार्यों में उत्साह रखता है। इसे संवेगभाव कहते हैं। पंचाध्यायी में लिखा है—

तब निश्चय सम्यक्त्वी जीवों का सद्भाव अंगुली पर गिनने लायक हो तो यह पूर्णतया स्वाभाविक है। यह निश्चय सम्यक्त्वरूपी रत्न चिंतामणिरत्न से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसके समान त्रिलोक तथा त्रिकाल में अन्य पदार्थ नहीं है। बाह्य में अनेक प्रयत्न करते हुए भी यह निधि हाथ में नहीं आती और कभी कभी काल लब्धि आदि के प्राप्त होने पर सरलता पूर्वक प्राप्त होती है। महावीर भगवान के जीव मरीचिकुमार ने चक्रवर्ती भरत के पुत्र तथा ऋषभनाथ तीर्थंकर के पौत्र होते हुए भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया, किन्तु सिंह की पर्याय में उसी जीव ने चारण मुनि अजित जय तथा अमितगुण द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त किया था। उत्तर पुराण में उस सिंह के विषय में लिखा है —

तत्वार्थश्रद्धानमासाद्य सद्य कालादिलब्धित ।
प्रणिधाय मन श्रावकव्रतानि समादद ॥ ७४–२०८ ॥

उस सिंह ने कालादि लब्धियों को प्राप्त कर शीघ्र ही तत्वार्थश्रद्धान को प्राप्त किया अर्थात् सम्यक्त्व धारण किया। उसने चित्त लगाकर श्रावकों के व्रत भी धारण किए थे।

(२३) सम्यक्त्वी जीव जब परभाव से अपनी आत्मा को भिन्न निश्चय करता है, तब वह कर्मों की आधीनता के अंग रूप विषय सेवन से अत्यन्त विरक्त हो यथाशक्ति भोगों की आराधना का त्याग करता है। आजकल लोग चक्रवर्ती भरत के नाम पर विषयों की आराधना करते हुए अपने को सम्यक्त्वी सोचा करते हैं। उनको यह बात मालूम होनी चाहिये कि चक्रवर्ती भरत का जीवन गृहस्थावस्था में व्रत शून्य नहीं था। महा-पुराण में लिखा है कि भरतेश्वर ने आदिनाथ प्रभु के समवशरण में जाकर सम्यक्त्व शुद्धि के साथ व्रत शुद्धि को भी प्राप्त किया था। कहा भी है–

श्रुत्वेति तत्वसद्भाव गुरो परमपूरुषात् ।
प्रह्लाद परम प्राप भरतो भक्तिनिर्भर ॥१६२॥
तत सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम् ।
निष्कलाद् भरतो भेजे परमानंदमुद्वहन् ॥१६३॥

स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शनायकाम्।
व्रतशीलावली मुक्ते कण्ठिकामिव निर्मलाम् ॥ ३४ पर्व-१६२

अर्थात् —परम-पुरुष भगवान से तत्वों का स्वरूप सुनकर भक्ति से भरे हुए भरत ने श्रेष्ठ आनन्द प्राप्त किया।

तदनंतर परम आनन्द को धारण किए हुए भरत ने शरीरानुराग रहित भगवान से सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को तथा व्रतों की परम विशुद्धता को प्राप्त किया।

भरत ने गुरुदेव की आराधना कर, जिसमें सम्यक्त्वरूपी प्रमुखमणि लगी है और जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के निर्मल कण्ठहार समान जान पड़ती थी, ऐसी पंचव्रत तथा सप्तशील रूप निर्मल माला धारण की, अर्थात् उनने निरतिचार बारह व्रतों को धारण किया था।

२३—इससे यह शंका दूर हो जाती है, कि भरतेश्वर ने कोई भी व्रत नहीं लिये थे। अतएव भरत को अव्रती मानकर स्वयं व्रतों से विमुख बनना अयोग्य है। सम्यक्त्वी जीव चारित्र मोहोदय से यद्यपि परम प्रिय संयम नहीं पालता है, तो भी वह संयमी व्यक्ति को देखते ही अवर्णनीय आनन्द को प्राप्त करता है। साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य स्थितिकरण तथा उपगूहनरूप भावों को धारण करता हुआ उज्ज्वल आत्माओं की विशेषताओं को प्रकाश में लाता हुआ प्रभावनांग का पोषण करता है। शंका का त्याग कर वह निःशंकित रहता है। भोगाकांक्षा त्यागने से उसमें निःकांक्षीत भाव होता है। संयमी पुरुषों के गुणों पर अनुरक्ति रख वह ग्लानि-भाव छोड़कर निर्विचिकित्सा अंग का पालन करता है। लोकमूढ़तादि भ्रान्त प्रवृत्तियों का परित्याग कर वह अमूढदृष्टि बनता है।

२४—आज का स्वयं को सम्यक्त्वी समझने वाला विलक्षण व्यक्ति है, जो निःशंकितभाव रहित हो जिनागम में दोषों का समूह देखा करता है। धनिकों की कृपा तथा लोक प्रतिष्ठा आदि की आकांक्षा में निमग्न रहता हुआ वह निःकांक्षित अंग को भुला देता है। उसके मन में संयम के तथा संयमी के प्रति ऐसी ही उपेक्षा तथा विरोध भावना रहती है,

जसी एकान्तवादी के चित्त में अनेकान्तवादी के प्रति रहती है। वह सरागी व्यक्ति को सद्गुरु मानता हुआ वीतरागी निर्ग्रंथों को सद्गुरु न मानकर मूढ़दृष्टि बनने की गाचनीय स्थिति को प्राप्त करता है। अहिंसा परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले सत्पुरुषों को देख उसके नेत्रों में आनन्दाश्रु नहीं छलछलाते, किन्तु उसके नेत्र क्रोध से ऐसे ही लाल होते हैं जसे अकंपनाचार्यादि सातसौ दि० जैन गुरुओं के दर्शन म बलि आदि के मन में विकारी भाव उत्पन्न होने से उनकी क्रोधाग्नि भभक उठी थी। वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण तथा प्रभावना का विकृत स्वरूप इनको इसी प्रकार प्रिय लगता है, जिस प्रकार सर्प दष्ट व्यक्ति को नीम प्रिय लगता है।

२५—गुणभद्र स्वामी ने लिखा है—

"आत्मश्लाघोऽन्यनिंदा च मरणादति रिच्यते"

अपनी स्तुति तथा अन्य की निंदा मृत्यु से भी बढ़ी है। इसके कारण से जीव नीच गोत्र का बंध करता है। ऐसे निंद्य कार्यों में आज के सम्यक्त्वी को अपार हर्ष प्राप्त होता है। समयसार की कुछ गाथाओं आदि का शुकवत् पाठ करके वह परमार्थत अविद्यापीठ का आचार्य बन दूसरों को सम्यक्त्वी होने की घोषणा करता है। शास्त्र में लिखा है कि इस काल में कठिनता से दो चार सम्यक्त्वी मिलेंगे, किन्तु आज के उपाधिदाता एसे हजारों लोगों को सम्यक्त्वी बताते हैं, जिनमें देव पूजा, संयम, तप आदि गृहस्थोचित कार्यों के प्रति अनुरक्ति के स्थान में विरक्ति पाई जाती है।

२६—आज अध्यात्म शास्त्र को शस्त्र का रूप दे विषय सेवन के लिये सहायक बनाया जा रहा है। निष्पक्ष भाव से विचारने पर यह बात स्वीकार करना होगा कि आज सम्यक्त्व के नाम पर मिथ्याभाव का प्रचार किया जा रहा है। शास्त्रों का अभ्यास करने वाले तो निश्चय सम्यक्त्व को अत्यन्त दुर्लभ कहते हैं किन्तु जन तत्वों से अपरिचित भाई सम्यक्त्व को बच्चा के खिलौने सदृश सहज ही प्राप्तव्य कहते फिरते हैं। जिसने उनके समान संयमी की निंदा शुरू की, उनको द्रव्यलिंगी कहना

प्रारम्भ किया, जिसने संयम को निस्सार समझा तथा एकान्त द्रव्यदृष्टि को धारण किया, वह इस नवीन मानपीठ का स्नातक बन कर सम्यक्त्वी का अभिनय दिखाता है।

२७—महापुराण में बताया है कि दशभव पूर्व भगवान वृषभदेव की आत्मा महाबल राजा की पर्याय में थी। महाबल ने अपनी आयु में एक माह शेष रहने पर आठ दिन पर्यन्त अष्टाह्निक महापूजा बड़े वैभव से की। उसके पश्चात् अपने पुत्र कुमार अतिबल को राज्य देकर सिद्ध-कूट चैत्यालय में जा कर उनने २२ दिन पर्यन्त आहार त्याग किया तथा प्रायोपगमन सन्यास सहित शरीर छोड़ करके स्वर्ग में ललितांग देव का वैभव प्राप्त किया। महान् सुखों को भोग कर अंत में ललितांगदेव ने चैत्यवृक्ष के नीचे अवस्थित होकर नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करते हुए शांत भाव से प्राण त्याग किया। वह स्व वज्रजंघ राजा हुआ। पुण्यात्मा वज्रजंघ ने अपनी रानी श्रीमती के साथ चारण ऋद्धिधारी दमधर तथा सागरसेन नाम के मुनीन्द्रों को भक्तिपूर्वक आहार दिया। उनने सत्पात्रदान के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि में जन्म-धारण किया।

महाबल राजा की पर्याय में जो स्वयं बुद्ध मन्त्री था, वह सौधर्म स्वर्ग से चयकर प्रीतिंकर नाम के अवधिज्ञानी तथा चारण ऋद्धिधारी मुनि हुए। उनके छोटे भाई का नाम प्रीतिदेव था। उनने भी अवधि ज्ञान तथा चारण ऋद्धि प्राप्त की। दोनों परम कारुणिक मुनीन्द्रों ने भोग भूमि में पहुँचकर महाबल राजा के जीव को कहा कि "अवधि ज्ञान के द्वारा तुम्हारा यहाँ जन्म जानकर तुमको प्रबोध प्रदान करने के लिए हम यहाँ आए हैं।" उनने यह भी कहा था —

विद्धाकुरु कुरुस्वार्य पात्रदान विशेषत ।
समुत्पन्न मिहात्मान विशुद्धाद दर्शनाद् विना ॥ ११२, पर्व ६॥

हे, आर्य ! तू निर्मल सम्यक्दर्शन के बिना केवल पात्रदान की विशेषता से यहाँ उत्पन्न हुआ है यह निश्चय समझ ॥

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाबल ललितांग तथा वज्रजंघ की पर्याय में उस जीव को निश्चय सम्यक्त्व नहीं प्राप्त हो सका।

अतएव महापुराण के आठवें सर्ग के १८४वें श्लोक के आधार पर महाबल राजा को सम्यक्त्वी कहना विरुद्ध है।

वह श्लोक इस प्रकार है —

स्वयबुद्धात 'प्रबुद्धात्मा' जिनपूजा-पुरस्सरम्।
त्यक्त्वा सन्यासतो देह ललिताग सरोऽभव ॥८—१८४॥

इसका अर्थ हिन्दी टीका में इस प्रकार किया गया है —

स्वयबुद्ध मन्त्री के उपदेश से 'आत्मज्ञान प्राप्त कर' तू ने जिनपूजा कर समाधि मरण से शरीर छोड़ा और ललिताग देव हुआ।

यहाँ प्रबुद्धात्मा का अर्थ विशेष रूप मे प्रतिबोध को प्राप्त करने वाली आत्मा होगा। इसी प्रतिबोध के कारण महाबल न राज्य को अहितकारी जानकर स्वहित म प्रवृत्ति की। उसका अर्थ सम्यक्त्व का पर्यायवाची आत्मज्ञान करना नवम पव के पूर्वोक्त ११२ व पद्य क विपरीत है। महापुराण के नवम पव के १०५ वें पद्य में आगत 'प्रबुद्धधी" शब्द के हिन्दी अर्थ म 'सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर' लिखने से भी भ्रम उत्पन्न होता है। वह पद्य इस प्रकार है —

त्व विद्धिमा स्वय बुद्ध यतोऽबुद्धा प्रबुद्धधी।
महाबलभवे जैन धर्मं कर्मनिवहणम् ॥१०५॥

हिन्दी टीका में ये शब्द लिखे गए हैं —

हे आर्य! तू मुझे स्वयबुद्ध मन्त्री का जीव जान जिससे कि तूने महाबल के भव में 'सम्यक्ज्ञान प्राप्तकर' कर्मों का क्षय करनेवाले जैन धम का ज्ञान प्राप्त किया था।

स्वय बुद्ध मन्त्री के उपदेश के पहले महाबल आत्महित के विषय में प्रसुप्त था। मन्त्री के उपदेश से उसकी बुद्धि ने निमलता प्राप्त की, इससे वह आत्म कल्याण के उ मुख हो गया। यदि प्रबुद्धधी का अर्थ सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति किया जाय, तो प्रीतिकर महामुनी का यह कथन कि "तू निर्मल सम्यग्दशन के बिना केवल पात्रदान की विशेषता से ही यहाँ उत्पन्न हुआ है।" (११२ पद्य) निरथक ही नहीं, विपरीत ठहरता है। इस स्पष्ट कथन

के प्रकाश मे प्रबुद्धघो तथा प्रबुद्धात्मा का अर्थ सम्यक्त्वी करना अयोग्य तथा असगत है। महापुराणकार का यह कथन मनन करने योग्य है —

नालब्धा दशने शुद्धि भोगकाक्षानुबधत ॥ ११३ ॥

अर्थात् महाबल के भव म तूने हम से ही तत्वज्ञान प्राप्त कर देह त्याग किया था। उस समय भोगों की आकाक्षा के वश से तूने दर्शन सम्बन्धी विशुद्धता नही प्राप्त की थी।

तस्माते दशन सम्यग्विशेषण मनुत्तरम्।
आयातौ दातुकामौ स्व स्वर्मोक्ष सुखसाधनम् ॥११४॥

अर्थ—अब हम दोनो सवश्रेष्ठ तथा स्वग मोक्ष सुख के साधनरूप सम्यग्दशन देने की इच्छा से यहाँ आए हैं।

यहाँ यह कथन भी ध्यान दने योग्य है कि सम्यक्त्व स्वग तथा मोक्षका साधन कहा गया है।

तद गृहाणाद्य सम्यक्त्व तल्लाम काल एपते।
काललब्ध्या विना नार्य तदुत्पत्तिरिहांगिना ॥११५॥

—अतएव हे आर्य ! अभी सम्यक्त्व को ग्रहण कर। उसे ग्रहण करने के योग्य यह समय है। काल-लब्धि के बिना इस ससार म जीवो के सम्यक्त्व की उत्पत्ति नही होती है।

देशना-काल लब्ध्यादि वाह्यकारण सम्पदि।
अन्त करण-सामग्र्या भव्यात्मास्माद विशुद्दक ॥११६॥

—जब देशनालब्धि, काललब्धि आदि वाह्य कारण रूप सपत्ति तथा करण लब्धि रूप अनरग सामग्री की प्राप्ति होती है, तब भव्य जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। अन्त मे वे ऋषिराज कहते हैं —

तत् त्व जैनेश्वरीमाना अस्मद्वाक्यात् प्रमाणयन्।
अनन्य शरणो भूत्वा प्रतिपद्यस्व दर्शनम् ॥ १३८ ॥

—अतएव हमारे कहने से जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रमाण मान तू जिनेन्द्र के सिवाय अन्य को शरण न मानकर सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर।

गुरोपदेश को सुनकर आर्य तथा आर्या ने सम्यक्त्व धारण किया। कहा भी है —

> इति प्रीतिकराचार्य-वचन म प्रमाणयन।
> सजानिरादधे मम्यग्दर्शन प्रीतमानम ॥१४८॥

इस प्रकार प्रीतिकर आचार्य की वाणी को प्रमाण मानते हुए वज्रजघ के जीव आर्य तथा श्रीमती के जीव आर्या ने हर्षित चित्त हो सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया।

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति, काल-लब्धि आदि आवश्यक साधन-सामग्री के अभाव में, असभव है। महाबल राजा ने व्यवहार सम्यक्त्व तथा सदाचरण क प्रभाव से स्वर्ग में सुख पाया। राज्य का वैभव पाया। भोग भूमि का आनन्द प्राप्त किया। इतना सब होते हुए भी उनको निश्चय सम्यक्त्व का लाभ नहीं हो सका था। पश्चात् प्रीतिकर आचार्य के उपदेश से परमार्थ सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई यह बात स्पष्ट है।

(२८) इस कथन के प्रकाश मे सम्यक्त्व रत्न का यथार्थ मूल्य विचारना चाहिए। आज जो सम्यक्त्व की काँच के टुकडों से तुलना की जा रही है, वह भ्रमभाव है। उसका परिशोधन मुमुक्षु वर्ग का परम कर्तव्य है। जिस प्रकार काठ की तलवार से सिंह नही डरता है, इसी प्रकार आजकल नकली सम्यक्त्व से सम्यक्त्व मोह कर्म निर्भय रूप में अवस्थित रहता है। यह विचारणीय बात है कि राजा महाबल ने राज्य छोडा, प्रायोपगमन सन्यास धारणकर बाईस दिन पर्यन्त आहार छोडा, तब भी वह निश्चय सम्यक्त्व नहीं मिला। ललिताग देव ने विविध प्रकार के सम्यक्त्वोत्पादक बाह्य साधनो को प्राप्त किया। पच नमस्कार का चिंतन करते हुए शरीर त्याग किया, फिर भी अतरग सामग्री के अभाव मे असली सम्यक्त्व नही मिला। वज्रजघ राजा की पर्याय मे श्रेष्ठ मुनिराजो को आहार दिया। उनका उपदेश सुना फिर भी काललब्धि दूर रहने से निश्चय सम्यक्त्व न मिला, किन्तु काललब्धि की अनुकूलता होने पर भोग भूमि में वह सम्यक्त्व प्राप्त हुआ।

(२९) अतएव आज जो सम्यक्त्व की चर्चा चल रही है तथा सयमी के तिरस्कार की जो अद्भुत पवन बह रही है, वह यान्त्रिक सम्यक्त्व आध्यात्मिक निधि रूप सम्यक्त्वसे भिन्न है। मुहर्रम के शेर में तथा वनराज व्याघ्रम जो अन्तर है, वही अन्तर सस्ते भाव से बिकनेवाले सयम विरोधी यान्त्रिक सम्यक्त्व तथा शुद्ध आत्मोपलब्धिरूप निश्चय सम्यक्त्वमें है।

(३०) मुमुक्षु प्राणी का कर्तव्य है कि अपने विवेकको जागृत करके खोटा माल न ले। जब तक काल लब्धि आदि साधन सामग्री का सुयोग नही मिलता है, तब तक कुगति में गिरानेवाली क्रूर प्रवृत्तियो का परित्याग कर अहिंसापूर्ण सत्प्रवृत्तियोका आश्रय लेकर सत्पुरुषोका आदर करते हुए अमूल्य नर-भव को सफल करे। यद्यपि सम्यक्त्व नही प्राप्त हुआ है, तो भी सत्प्रवृत्तियो के द्वारा यह जीव पशु योनि तथा नरक पर्याय में नही जायगा। सयम का अभ्यासी मानव कालादि लब्धि आनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त करके शीघ्र ही ससार का बन्धन छेद सकेगा।

(३१) कोई-कोई सोचते हैं सवज्ञके ज्ञान मे जैसा झलका है वैसा हमारा परिणमन होगा। उद्योग करना व्यर्थ है।

यह विचार शुद्ध तर्क की दृष्टिसे निर्दोष नही माना जा सकता। हमारे परिणमन का स्वामित्व सवज्ञमे मानना कर्तावादियो सदृश बात है। हमारा परिणमन हमारे आधीन है। द्रव्यान्तर के आधीन नही है। तक शुद्ध प्रतिपादन तो यह होगा, कि जैसा हमारा परिणमन होगा, वैसा केवलीका ज्ञान बतावेगा। जैसे निमल दपण हमारे परिणमन के अनुसार प्रतिबिंब बताता है। दूसरी बात यह है कि आज जब सर्वज्ञ का इस क्षेत्र में अभाव है, तब उनके ज्ञान के आधारपर तर्क करते बैठना तथा अपना अनिर्णीत भविष्य रखना बौद्धिक व्यायाम मात्र है। उससे आत्म हित का क्या सम्बन्ध है?

(३२) भगवानकी वाणीमें हमारे कल्याणका मार्ग बताया गया है। जिनेन्द्र भगवान को शरणरूप, मगलरूप तथा लोकोत्तम रूप मानकर पाप प्रवृत्तियों का त्याग करना गृहस्थ का कर्तव्य है। पुण्य प्रवृत्तियों का

त्याग करना है, तो पाप प्रवृत्तियों को स्वीकार करना होगा। इस दुषमाकाल में पाप तथा पुण्य इन दोनों का त्याग करके परम वीतरागी बनना असम्भव है अतएव पाप तथा पुण्य इन दोनों में से पुण्य का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य है। आज लोग धन, प्रतिष्ठा, वैभव आदि की तृष्णावश दयादान को भूल रहे हैं। विवेकशून्य बनकर अभक्ष्य को खाने लगे हैं। मद्य को पीने लगे हैं। कुशील सेवन करने नहीं डरते। चोरी तथा परप्रतारणा में प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। पापों के बीज जुआ, सट्टा आदि में संलग्न हो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान की मूर्ति बन रहे हैं। महा परिग्रह पिशाच के इशारे पर स्वच्छंद प्रवृत्ति कर रहे हैं। यथार्थ में नारायण अर्थात् भगवान बनने की शक्तिशाली नर आज केवल राक्षसों को भी लज्जित करने वाला बन रहा है। उसके लिए उचित कर्तव्य यह होगा, कि वह कुकृत्यों से बचकर अपने जीवन को सत्य, अहिंसादि सद्गुणों से समलंकृत करे। सम्यक्त्व की चर्चा के नाम पर अपनी कुत्सित प्रवृत्तियों का पोषण तथा समर्थन भयावह है।

(३३) आगम में कहा है कि पंचमकाल के अन्त तक जैनधर्म रहेगा। अभी १८५०० वर्ष के लगभग जैनधर्म और रहेगा। आचार्य शान्तिसागर महाराज कहते थे, "यह तो पंचमकाल का बाल काल है। पंचमकाल के अन्त तक मुनिधर्म रहेगा।" पंचमकाल के अन्त में होनेवाले मुनि का नाम वीरांगज होगा। सर्वश्री आर्यिका, अग्निल श्रावक तथा पंगुश्री श्राविका इस प्रकार चतुःसंघ उस समय रहेगा। अतएव आज जो मुनिधर्म का अभाव सोचते हैं, उनका कथन आगम के विरुद्ध होने से अमान्य है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि आज से अठारह हजार पांच सौ वर्ष के अन्त में धर्मद्रोही राजा कल्की मुनि के हाथ के प्रथम ग्रास को शुल्क रूप में ग्रहण हेतु मंत्री को आदेश देगा। प्रथम पिंड के लिये जाने पर मुनीन्द्र अन्तराय मानकर वापिस चले जाते हैं। उस समय उन वीरांगज मुनि को अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है। तिलोयपण्णत्ति अध्याय ४, गाथा १५२८ में कहा है "कादूणमंतरायं गच्छदि पावदि य ओहिणाणं" अर्थात् अन्तराय मानकर वे मुनिराज चले जाते हैं तथा अवधिज्ञान को प्राप्त करते हैं।

"वे मुनिराज आर्यिका आदि से कहते हैं "अब दुषमाकाल का अन्त आ चुका है। तुम्हारी हमारी आयु के तीन दिन शेष हैं। तब वे सब आहार का त्यागकर सन्यास पूर्वक मरण करते हैं। उस समय असुरकुमार देव कल्की को मार डालता है" (तिलोयपण्णत्ति पृष्ठ ३४५)

(३४) इस कथन से उन महानुभावों को अपनी भ्रमपूर्ण धारणा को सुधारना चाहिए, जो अभी ही यह मान बैठे हैं कि आजकल सच्चे मुनियों का अभाव है तथा अब श्रावक के व्रतो का भी पालन न होगा। तिलोयपण्णत्ति से तो यह विदित होता है कि वीर निर्वाण के हजार-हजार वर्ष बाद एक-एक धर्मद्रोही कल्की पैदा होगा और प्रत्येक कल्की के समय में मुनिराज को अवधिज्ञान होगा। कहा भी है —

> कल्की पडिएक्केक्क दुस्समसाहुस्सओहिणाण पि।
> सघा य चादुवण्णा थोवा जायन्ति तक्काले ॥ ४-१५१७ ॥

प्रत्येक कल्की के प्रति एक-एक दुषमाकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है, और उसके समय में चातुर्वर्ण्य सघ भी अल्प हो जाते हैं।

इस आगम के प्रकाश में वर्तमान में मुनियों के अभाव की कल्पना करना तथा अट्ठाईस मूलगुणों के परिपालन में सावधान रहने वाले, परमागम को प्राण मानने वाले, ध्यान अध्ययन में तत्पर रहनेवाले परम शान्त तथा विकार विजेता मुनिराज को देखकर ज्ञानमद से आविष्ठ हो उनको द्रव्यलिंगी कहना, उनका अनादर करना तथा इस प्रकार मिथ्या प्रचार करना जीव के भयावह भविष्य का सूचक है। आगम के अविरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले जिन मुद्राधारी मुनिराज को द्रव्यलिंगी माननेवाला स्वय को सर्वज्ञ समझने की भ्रान्तधारणा के आधीन है। गृहस्थ को सर्वज्ञता की ज्योति नहीं प्राप्त होती। मन पर्ययज्ञान भी मुनि को ही होता है तथा श्रेष्ठ अवधिज्ञान भी गृहस्थ के नहीं पाया जाता है। ऐसी स्थिति में कोई व्रताचरण विहीन गृहस्थ यदि आगम के अनुसार आचरण करने वाले मुनिराज को मिथ्यात्वी कहता है तो इससे यह प्रतीत होता है कि दर्पण तुल्य साधुराज के जीवन में वह अपना स्वय मुख देखता है। समीक्षकों को मुनियों की आलोचना करते समय यह नहीं भूलना चाहिए, पुलाकादि

है। एकत्व, अनित्यत्वादि भावनाओवाला व्यक्ति भोगो मे तीव्र आसक्ति नही धारण करता है। वह स्वयमेव शक्ति भर जीव रक्षण करता हुआ प्राणी सयम की ओर प्रवृत्त होता है तथा इन्द्रियो का दास न बनकर इनका स्वामी होता हुआ इन्द्रिय सयम को भी पालता है।

जीवन को विशुद्ध बनाने म ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना तथा वैराग्य भावना का महत्वपूर्ण स्थान है। इन भावनाओ के द्वारा मन में स्थिरता प्राप्त होती है। महापुराण मे कहा है —

वाचना पृच्छने सानुप्रेक्षण परिवर्तनम् ।
सद्धम देशन चेति ज्ञातव्य ज्ञानभावना ॥ ९६ ॥ पर्व २१ ॥

अर्थात् जिनागम का स्वय पठन करना, दूसरों से पूछना, पदार्थों के स्वरूप का चितवन करना, पढे हुए विषय का पुन पाठ करना, धर्मोपदेश देना ये पाच ज्ञान भावनाएँ हैं।

आत्म निर्मलता के लिए समस्त जिनागम का स्वाध्याय लाभकारी है। आत्मानुशासन, परमात्मप्रकाश, ज्ञानार्णव सदृश शास्त्रो के द्वारा मोह जनित मलिनता दूर होती है।

सवेग प्रशमस्थैर्य मसमूढत्वमस्मय ।
आस्तिक्य मनुकम्पेति ज्ञेया सम्यक्त्व भावना ॥ ९७ ॥

अर्थात्—सवेग अर्थात् ससार से भय होना, शान्त भावो की स्थिरता, मूढताओं का त्याग, मद रहित होना, जिनेन्द्र कथित वचनो मे प्रगाढ श्रद्धा तथा दयाभाव ये सम्यक्त्व भावनाएँ हैं।

ईर्यादिविषया यत्ना मनो वाक्-काय गुप्तय ।
परीषह सहिष्णुत्व इति चारित्रभावना ॥९८॥

गमनागमन, भाषा आदि के विषय में सावधानी, मन, वचन तथा काय गुप्ति का पालन एव परीषहो को सहना चारित्र भावना है।

विषयेस्वनभिस्वग काय तत्वानुचिंतनम् ।
जगत्स्वभावचिन्त्येति वैराग्य स्थैर्यभावना ॥ १०० ॥

विषयो में आसक्त न होना, शरीर के स्वरूप का पुन' पुन चितवन

करना; जगत् के स्वभाव का चिंतवन करना वैराग्य को स्थिर रखनेवाली वैराग्य भावना है। (देखो महापुराण पर्व २१)

(३८) आत्म चिंतन के विषय में महायोगी जिनसेन स्वामी का यह कथन महत्वास्पद है—

हृषीकाणि तदर्थेभ्य प्रत्याहृत्य ततोमन ।
सहृत्य धियमव्यग्रा धारमेद् ध्येयवस्तुनि ॥ १०६ ॥

अर्थात्—इन्द्रियों को स्पर्शनादि विषयों से हटावे, पश्चात् मन को वश में करके स्थिर बुद्धि को ध्येय पदार्थ मे लगावे।

विवेकी मानव का कर्तव्य है कि आस्रव तथा कर्मबन्ध के कारणों का विचार करके विकार के कारणों से आत्मा की रक्षा करे। जिस प्रकार सछिद्र नौका जल भरने से डूबती है इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रमादी बन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग रूप बन्ध के कारणों का परित्याग नही करता है, उसकी जीवन नौका ससार सागर म डूबे बिना नही रहती।

(३९) जो व्यक्ति कारण विशेष से व्रत पालने में असमर्थ है उसे सदा जिनेन्द्र भक्ति रूप गङ्गा में अपने मलिन मन को धोना चाहिए। समाधि भक्ति में लिखा है —

एकापि समर्थेय जिनभक्तिर्दुर्गति निवारयितुम ।
पुण्यानि च पूरयितु दातु मुक्तिश्रिय कृतिन ॥ १३ ॥

यह जिन भक्ति अकेली भी दुर्गति का निवारण करती है। पुण्य को प्रदान करती है तथा सुकृती व्यक्ति को मुक्ति श्री प्रदान करने में समर्थ है।

वादिराज सूरि कहते है कि आत्मज्योति बहुत बडी निधि है। वह आत्मा के दर्शन करनेवाले जीवो को आनन्द प्रदान करती है, किन्तु वह कर्म रूपी पृथ्वी पटल के नीचे दबी हुई है। वह मिथ्यात्वी जीवो के लिए अप्राप्य है। आपकी भक्ति युक्ति व्यक्ति प्रकृति आदि चतुर्विध बन्ध रूप कठोर पृथ्वी को खोदने में समर्थ स्तोत्र रूप कुदारी के द्वारा उस आत्म-ज्योति को शीघ्र ही हस्तगत करते हैं। अर्थात् जिनेन्द्र भगवान की भक्ति

के प्रभाव से यह आत्मा दर्शन मोहनीय कर्म को दूर करके आत्मज्योति को प्राप्त करता है।

जिनेन्द्र की भक्ति करने वाला व्यक्ति विषयो के प्रति विरक्ति को प्राप्त करता हुआ आत्मस्मृति को पाकर सम्यक्त्वी बनता है। इसी कारण जिनदर्शन को सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारणरूप माना है। इनसे वीतराग भाव जागते हैं।

(४०) सच्चा सम्यक्त्वी विवेक ज्योति समलकृत रहता है, अत वह विषयो की आशा-विहीन, परिग्रह तथा आरम्भ रहित निर्ग्रंथ साधु को ही गुरु मानता है। वह परिग्रही को गुरु पदवी नही प्रदान करता है। आजकल वस्त्रादि परिग्रह को धारण करने वाले को सद्गुरु कहना तथा मानना सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा क प्रतिकूल है। उससे सम्यक्त्व का विघात होता है।

(४१) जो व्यक्ति गुरु के गुणो से अलकृत नही होते हुए भी अंध भक्तो द्वारा गुरुदेव रूप से पूजे जाते हुए मोहवश उनको अपनी पूजा से नही रोकता है, उसके पास सम्यक्त्व का प्रदीप किस प्रकार प्रदीप्त रहेगा ? दसणपाहुड की यह चेतावनी स्मरण योग्य है—

> जे दसणेसु भट्टा पाए पाडति दसण धराण ।
> ते होति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति स्वय दर्शन रहित हो सम्यग्दृष्टियों द्वारा अपने पैर पुजवाते है, वे परभव मे लूले तथा गू गे होते हैं। उनको रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है।

जैनागम को विरोधाग्नि से बचाने के लिये अनेकात का शरण अगीकार करना आवश्यक है। भावलिगी ही मोक्ष प्राप्त करता है यह सत्य है, किंतु यह भी सत्य है कि भावलिंग के लिए द्रव्यलिंग भी कारण है। सवस्त्र सम्प्रदाय वालो के यहां द्रव्यलिंग की अनिवार्यता नही मानी गई है। भावो का एकात पक्ष खेंचना तथा द्रव्याचरण की अधिक उपेक्षा देखकर यह प्रतीत होता है कि इन विचारो पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का

प्रभाव है। दिगम्बर विचारधारा म द्रव्य तथा भाव दोनो का सम्यक् रूप म आदर किया गया है।

किसी व्यक्ति की अतरग मनोवृत्ति को समझने की क्षमता मन पर्यय-ज्ञानी मुनि में पाई जाती है। आजकल वह मन पर्यय ज्ञान नही होता है, अतएव दूसरे की चित्तवृत्ति की यथार्थता समझना एक प्रकार से असम्भव है। बाह्य प्रवृत्ति आदि को देखकर अतरग वृत्ति का अनुमान स्थूल रूप मे किया जाता है। इसके सिवाय अन्य माग नही है। अतएव कोई हृदय से साधु है या नही इसका ज्ञान आजकल बाह्य क्रियाओ के आधार पर किया जाता है। जो अध्यात्मवादी यान्त्रिक सम्यक्त्वी स्वय अट्ठाईस मूल-गुणो का नाम तथा स्वरूप बिना समझे किसी भी दिगम्बर मुनिराज को देखकर घृणावश नाक भौं सिकोडते हैं, वे यह नही सोचते कि उनकी दुर्भावना का आगे क्या कुफल होगा ? दिगम्बर मुनि यशोधर महाराज के गले मे मृत सप डालने से भावी तीर्थंकर श्रेणिक राजा को नरक मे जाना पडा। अतएव परम कारुणिक सभी श्रमणो के प्रति बिना आगा पीछा सोचे द्रव्यलिंगी पने का आरोप लगा, उनको अपूज्य कहने का मिथ्या आग्रह कैसा है, यह सहज ही सोचा जा सकता है।

(४३) सरोवर की लहरो स भी अधिक चचल वृत्ति भावो की हुआ करती है। यदि कोई अध्यात्मवादी अपनी समझ के अनुसार किसी भाव-लिंगी मुनि को आहार द रहा है, और कदाचित् उन मुनि के भावो में परिवतन होने स छठवें मे नीचा गुणस्थान आ जाय, तो क्या उनको आहार देना स्थगित कर दिया जायगा ? क्योकि वे द्रव्यलिंगी हो गए !

लोक व्यवस्था में भयकर गडबडी आ जायगी, यदि भावों का अनुचित एकान्त पक्ष पकडकर द्रव्यरूपता की अत्यन्त उपेक्षा की गई। किसी शीलवती स्त्री के परिणाम यदि पर पुरुष के प्रति कुछ क्षण पर्यन्त रागभाव युक्त हो गए तो भाव का अपेक्षा वह शीलवती न होगी, तब उसे पर पुरुष आसक्त मानकर यदि घर मे बाहर किया जायगा, तो कैसी स्थिति उत्पन्न होगी ? अत विवकपूर्ण सुव्यवस्था के लिए भाव के साथ द्रव्याचरण का भी यथोचित मूल्य हृदयगम करना उचित है।

(४४) घोडे पर चढने वाला सवार अनेक बार गिरता है, पश्चात् वह अश्वारोहण कला मे निपुण बनता है, इसी प्रकार मोक्ष मार्ग मे चलनेवाला जीव कषायो के उदय के कारण अनेक बार नीचे गिरता है। पश्चात् अपने पुरुषार्थ तथा उद्योग के बल पर वह ध्येय को प्राप्त करता है। द्रव्य निक्षेप तथा भावी नगमनय की अपेक्षा वतमान मे भावलिंग विहीन द्रव्यलिंगी साधु को भावलिंगी कहा जा सकता है। सर्वत्र सर्वदा भाव निक्षेप का ही उपयोग नही किया जाता। अचेतन मूर्ति मे प्राण प्रतिष्ठा के पश्चात् साक्षात् जिनेन्द्र भगवान का दर्शन करनेवाला विचारवान सत्पुरुष आत्मकल्याण को सिद्ध करता है, इसी प्रकार कुछ अपूर्णता युक्त वतमान दिगम्बर मुनियो मे, श्रेष्ठ मुनियो की, अपनी उज्ज्वल भावना द्वारा स्थापना करके मुमुक्षु हित साधन कर सकता है। आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में लिखा है कि प्रतिमा मे जिनेन्द्र भगवान की स्थापना के समान इस युग के साधुओ मे पूर्वकालीन मुनियो की स्थापना करके उनकी समाराधना कर। अधिक बाल की खाल खेंचने मे भलाई नही है। कहा भी है —

> विन्यस्यैद युगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
> भक्त्वा पूवमुनीनर्चेत कुत श्रेमोतिचर्चिनाम्।

आजकल सर्वत्र आर्तध्यान, रौद्रध्यान की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही है। जीव आत्मानन्द का भूलकर हिंसानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द आदि असत प्रवृत्तियो मे उलझा है। ऐसी स्थिति मे आत्महितार्थ जिनेन्द्र की आज्ञानुसार सकल परिग्रह का त्याग करनेवाले उच्च साधुओ का दर्शन सचमुच मे आश्चय की बात है। अतएव मुमुक्षु गृहस्थ का कत्तव्य है कि ऐसी आत्माओ की योग्य विनय, सेवा, सुश्रूषा आदि द्वारा उनको धर्म मे उत्साहित करे और आत्मकल्याण को भी सिद्ध करे।

जल की धारा के समान जीव के भाव पूर्वाभ्यास के अनुसार पतित पथ की ओर सहज ही जाते है, अतएव आत्मकल्याण साधन मे उद्यत योग्य श्रमणो तथा महान् त्यागियो के दर्शन द्वारा मुमुक्षु को आत्महित को सिद्ध करना चाहिए तथा जननी जिस प्रकार शिशु के प्रति आत्मी-

यना धारण करती है, उस प्रकार की ममतापूर्ण प्रवृत्ति करना उचित है।

(४५) स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन करने से सवत्र विपत्ति ही दिखाई पडती है। अध्यात्म शास्त्र मे तत्व दृष्टि की प्रधानता से वस्तु का कथन किया जाता है। एवभूत नय का आश्रय लेकर यह कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वप्रतिष्ठ है। सर्वार्थ सिद्धि में लिखा है "क्व भवान आस्ते ? आत्मनि—" "आप कहाँ विराजमान हैं ? आत्मा में।" यह उत्तर एवभूत नय की अपेक्षा से सुसगत है। एवभूत नय गाय को गमनशील अवस्था मे गो शब्द द्वारा वाच्य मानता है। उसे बैठी अवस्था म गाय नहीं मानता। यदि यही नय सत्य है और अन्य नय मिथ्या हो जाय, तो सवत्र अव्यवस्था, विरोध आदि के कारण गडबडी हो जायगी।

(४६) कहते हैं एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यसे सर्वथा सम्बन्ध न माना जाय, तो क्या हानि है ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा, कि जैनतत्वज्ञान का भव्य प्रासाद धराशायी हो जायगा। बतनमें घी रखा है। एवभूत नयाभासी कहता है बतन बतन में है, घृत घृत में है। घृत बर्तन में नहीं है और बतन घृतम नहीं है, तो स्याद्वादी पूछता है बर्तन उलटाने पर घी भूतल पर क्यों गिर जाता है और सीधा रखने पर घृत बतनमें क्यों स्थित रहता है ? अतएव बतन को घृत का आधार भी स्वीकार करना होगा। जिस प्रकार फोटो खेंचने के केमरा द्वारा व्यक्ति का बाह्यरूप आता है, तथा एक्सरे के यन्त्र द्वारा उसके भीतर की अस्थियो का फोटो आता है, उसी प्रकार द्रव्य तथा पर्याय दृष्टियो द्वारा पदार्थ की भिन्न अवस्था का अवबोध होता है। अत बाह्य दोनो फोटो परस्पर विरोधी दिखते हुए भी सत्य हैं तथा उन दोनों का यथा स्थान उपयोग होता है। इसी प्रकार जनागम में विरुद्ध देखनेवाली दृष्टियो मे मैत्री भाव उत्पन्न करके तत्व की व्यवस्था की गई है। अत भाव का एकान्त, द्रव्य का एकान्त, व्यवहार का एकान्त, निश्चय का एकान्त, अध्यात्म दृष्टि का एकान्त, बाह्य दृष्टि का एकान्त, निमित्त का एकान्त, उपादान का एकान्त आदि श्रेयोमार्ग से विमुख कर जीव को नरक, पशु आदि पर्यायों मे गिराकर दुखी बनाते हैं।

(४७) बिजली [illegible] तथा घन नाम से कहे

तारों का सयोग होते ही विद्युत का प्रकाश अन्धकार को दूर करता हुआ आनन्द प्रदान करता है, इसी प्रकार परस्पर पतिपक्षी दृष्टियो का मैत्री-पूर्ण सम वय तत्वसिद्धि जनित आनन्द को उत्पन्न करता है।

कार्य सिद्धि में निमित्त तथा उपादान कारण का सहयोग आगम, युक्ति तथा अनुभव द्वारा समर्पित है। उपादान को निमित्त न समझ उपादान ही मानना तथा निमित्त कारण को निमित्त ही मानकर उपादान नहीं समझना निर्दोष है। विषय में एकान्त पक्ष को ग्रहण करना सत्य के विपरीत है। सब द्रव्यो को अवकाश प्रदान करने मे आकाश द्रव्य निमित्त कारण है। प्रत्येक द्रव्य स्वात्म प्रतिष्ठ है, फिर भी उसका लोकाकाश मे अवगाहन होने से उसको कथचित् लोकाकाश मे स्थित भी मानना पडता है।

धमद्रव्य जीव तथा पुद्गल के गमन मे निमित्त कारण है। ऊर्ध्वगमन स्वभाववाले तथा अन तवीय युक्त भगवान लोक के अग्रभाग पयन्त जाते हैं तथा आगे नही जाते हैं, क्योंकि गमन मे निमित्त कारण धर्म द्रव्य का लोकाग्र पयन्त सद्भाव पाया जाता है। धम द्रव्य के सद्भाव, असद्भाव के साथ गमन का सद्भाव असद्भाव देखकर न्याय शास्त्र के अनुसार धमद्रव्य का गमन हेतुक आगम मे माना है।

अन्धा मनुष्य पचेन्द्रिय है। उसके चक्षुरिन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम विद्यमान है, फिर भी उसको रूप का ज्ञान क्यो नही होता है? द्रव्येन्द्रिय रूप निमित्त कारण म गडबडी रहने से उपादान रूप शक्ति भी बेकार रहती है। इसी कारण आचार्य सम तभद्र स्वामी ने बाह्य तथा अ तरग कारणोकी परिपूणताको कायका साधक कहा है। अ धेको चाक्षुप ज्ञान न होने का कारण उपादान शक्ति होते हुए भी निमित्त कारण का अभाव है।

(४८) उपादान के बराबर महत्वपूण न होते हुये भी निमित्त कारण का अभाव कार्य सिद्धि मे बाधक हो जाता है। नेत्रा मे देखने की शक्ति रहते हुये भी वृद्ध पुरुष चश्मे बिना पदार्थ को नही देख पाते। इससे निमित्त कारण की निस्सारता का पक्ष अनुभव विरुद्ध प्रमाणित होता है।

छेदन भेदन की शक्ति भाले की नोक मे रहती है, किन्तु यदि लकडी रूप सहायक सामग्री का भाले से सम्बन्ध न जोडा जाय, तो वह अपना कार्य नहीं करेगा। बहुमूल्य घडी के सब पुर्जे ठीक हो, किन्तु काटो को मिलानेवाली छोटी सी कील न रहे, तो वह घडी समय सूचन नही कर पाती है, इसी प्रकार छोटा भी कारण अविद्यमान् रहने पर कार्य की उत्पत्ति मे बाधक हो जाता है।

वास्तव में बात यह है कि पदार्थों म अचिन्त्य सामर्थ्य है। धम द्रव्य अमूर्तिक है। पुद्गल मूर्तिक है। मुक्त जीव अमूर्तिक है। धम द्रव्य स्वय अमूर्तिक होते हुए अमूर्तिक सिद्ध जीव तथा मूर्तिक पुद्गल क गमन में सहायता प्रदान करता है काल द्रव्य अमूर्तिक है, फिर भी वह मूर्तिक अमूर्तिकरूप सभी द्रव्या के परिणमन मे निमित्त कारण माना गया है। पृथक् प्रदेश युक्त होते हुए भी धर्मादि द्रव्य द्रव्यान्तरों के गमनादिरूप परिणमन मे हेतु बनते हैं, ऐसी सवज्ञ भगवान की वाणी मे कहा गया है।

(४९) निश्चय दृष्टि की प्रधानता से समयसार में यह लिखा है —

जो जम्हि गुणो द व, सो अण्णम्हि दुण सकमदि दव्वे ॥१०३॥

अर्थात् जो गुण जिस द्रव्य मे रहता है उसका अ य द्रव्य म सक्रमण नही होता है, फिर भी पुद्गल के निमित्त से जीव मे विकार परिणाम होते हैं तथा विकारी जीव का निमित्त पाकर पुद्गल का कम रूप में परिणमन होता है। यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा आगम में कहा गया है। इन दोनो कथनो का अविरोधी रूपम सम वय करना स्याद्वाद दृष्टिके आधीन है। किस अपेक्षा स पदाथ का स्वरूप कहा गया है, यह बात स्याद्वादी ध्यानम रखता है, इसीसे वह विरोध को दूर कर [illegible] को स्थापित करता है। विचारवान पुरुष भोजन के प्रकरण में [illegible] अथ घोडा न करके नमक करता है यद्यपि सैंधव का [illegible] है, किन्तु वह अथ प्रकरण सगत नही है, ऐसा ही [illegible] चर्चामें लगाना उचित है।

(५०) एक दृष्टि से कहते हैं सब द्रव्य [illegible] है, [illegible] कहते है एक पदाथ अन्य पदार्थ का उपकारक [illegible] है। [illegible]

जिससे विभिन्न देशनाओं में संघर्ष न हो। जिस प्रकार समयसार शास्त्र परमागम का अंग होने से मान्य है, पूज्य है, वंदनीय है, उसी प्रकार मूलाचार, रत्नकरंड श्रावकाचार आदि शास्त्र भी आर्ष रचना होने से आदरणीय हैं। श्रमणों की अपेक्षा अध्यात्मशास्त्र का महत्व विशेष है, गृहस्थों की दृष्टि से पहले नीति एवं सदाचार का पाठ सिखानेवाले चरणानुयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। सभी शास्त्र आत्मा के विकार को दूर करनेवाली दवा के समान है। रोगी की प्रकृति आदिको देखकर जैसे औषधि दी जाती है, उसी प्रकार जीव की परिणति को देखकर योग्य शास्त्र की योजना की जाती है।

(५३) आज जगत्, विषय भोगों की आराधना मे अन्धा बन रहा है। जन भाई कुल परम्परागत सदाचार को भूल रहे हैं। रात्रि भोजन, अनछना पानी, अभक्ष आहार आदि में उनकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। देव दर्शन उनको दुःखद लगता है। शास्त्र विष सदृश लगते हैं। सत्पुरुष शत्रु तुल्य प्रतीत होते हैं। वे कनक तथा कामिनी के दास बन रहे हैं। उनके आगे, शुद्ध दृष्टि की अपेक्षा बाह्याचरण का निषेध करनेवाले समयसार सदृश अध्यात्मग्रंथ का प्रतिपादन विलक्षण तथा विपरीत प्रभाव दिखाता है। वे पाप कर्मों को तो नहीं छोड़ते हैं। पुण्य को हेय सुनकर हर्षपूर्वक सत्कार्यों को छोड़ते हैं और पापाचरण द्वारा आगामी स्व विनाश की सामग्री के संग्रह में उद्यत होते हैं। इससे जीव का अकल्याण होता है।

(५४) इसी कारण पात्रापात्र आदि का विचार बिना किए दी गई अमृतोपम औषधि भी विष सदृश हानि करती है। संग्रहिणी के रोगी को दूध, हलुआ आदि कठिनता से पचने वाले पदार्थ देव, तो उसके रोग की वृद्धि होगी। वे पदार्थ तो अच्छे हैं किन्तु वह मनोज्ञ उनका पात्र नहीं है। इसी प्रकार आज का विषयान्ध मानव विचित्र स्थिति में है। पशुओं ने जितना पवित्राचार पाला, उसके लिए भी वह तैयार नहीं है। उसके हाथ में अध्यात्मशास्त्र रूपी तीक्ष्ण तलवार देने से वह स्वयं अपने अङ्गों को छेद कर दुःखी हो रहा है। आज लोगों को ऐसा शास्त्र, शास्त्री तथा गुरु प्रिय लगता है, जो स्वेच्छाचारी जीवन का पोषण करे। ये लोग खाने के लिए

जीते हैं, जीने के लिए नहीं खाते हैं। उनके समक्ष नर जन्म का कोई महत्व नहीं है। ऐसे के हाथ में अध्यात्म शास्त्र देना बच्चे के हाथ में बन्दूक देने समान अनर्थकारी हो रहा है। अत आचार्य शान्तिसागर महाराज कहते थे 'पहले लोगो को बन्ध का शास्त्र चाहिए। समयसार के स्थान में महाबन्ध चाहिए।' ऐसी स्थिति मे जो क्रमका भङ्ग करके सबको श्रेष्ठ शास्त्र पढाया जाता है, उससे गृहस्थ लोग अपने कर्तव्य से विमुख बन रहे हैं।

(५५) औषधि के सेवन से असंख्य लोग रोग मुक्त हो नीरोगता प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं, किन्तु रोगी के रोग के प्रतिकूल औषधिदान द्वारा भी हजारो बीमार मरण को प्राप्त होते हैं। इसी से वैद्यराज को कभी-कभी यमराज के सहोदर कहकर पुकारा जाता है,

एक कवि कहता है —

> वैद्यराज नमस्तुभ्य यमराज-सहोदर ।
> यमस्तु हरति प्राणान् त्व प्राणान् धनानि च ॥

हे यमराज के सहोदर वैद्यराज! आपको मैं प्रणाम करता हूँ। यम तो केवल प्राणों का ही हरण करता है, किन्तु आप प्राणो तथा धन दोनो का भी हरण करते हैं।

चतुर तथा विवेकी वैद्य शोधित विष को योग्य मात्रा म तथा उचित अनुपान मे देकर रोग दूर करता है, किन्तु विवेक शून्य वैद्य अमृतोपम पदार्थको मात्रा, अनुपानादिके व्यतिक्रम द्वारा देकर प्राण हरण करता है।

यही उदाहरण आज की अध्यात्म चर्चा की प्रचुरता के क्षेत्र म चरितार्थ होता है। अनेक अनासक्त तथा भोग विलास मग्न व्यक्ति समयसार की भाव प्रधान प्ररूपणा की ओटम पापकार्यों म निमग्न रहते हुए अन्य धार्मिको का तिरस्कार तथा उपहास करते फिरते है। आज चोर कोतवाल को डाँटता दिखाई पड रहा है। हम एक ऐसे समयसार के प्रेमी सज्जन मिले थे, जो देव दर्शनादि को व्यर्थ मानते हुये चमडे के जूते आदि बेचते थे। वह कार्य उनको जैनकुल के विपरीत नही दिखता था। अति सर्वत्र वर्जयेत् यह सूक्ति सचमुच मे अर्थपूर्ण है। आज अध्यात्मवाद

प्रतिरेक हो गया है। इससे अध्यात्मिक रोग की वृद्धि दिखाई पड रही है। इसी का फल है कि परिग्रह युक्त की पूजा होती है और निर्ग्रन्थ गुरु की उपेक्षा की जाती है। इस रोग में यह विलक्षणता है कि रत्नत्रय के साक्षात् तथा परम्परा रूप में धनो के प्रति विरक्ति ही नही उत्पन्न होती है, किन्तु उनके प्रति विद्वेष का भाव भी उत्पन्न होना है, जैसा विद्वेष धर्म के आयतनो के विरुद्ध गृहीत मिथ्यात्वियों में दृष्टिगोचर होता है।

(५६) अतिरेकपूर्ण दृष्टिवाला व्यक्ति वीतराग प्रणीत पवित्र वाणी में से कषाय पोषक सामग्री को अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा खोजता फिरता है। जिन भगवान के दर्शन की महिमावाला पद्य इस प्रकार है —

दर्शन देव देवस्य दर्शन पापनाशन।
दर्शन स्वर्ग सोपान दर्शन मोक्षसाधन ॥

यह भोगप्रिय तार्किक कहता है, भगवान के दर्शन से पापों का नाश होता है, यह स्वर्ग की सीढी तुल्य है, एव मोक्ष का साधन है, अत दर्शन-मात्र करना चाहिए। किसी त्याग, सयम, नियम, व्रत आदि की आवश्यकता नही है। दर्शनमात्र से आत्मा दोषमुक्त बन जायगी।

(५७) अध्यात्मवादी इससे भी आगे बढकर कहता है 'तन मन्दिर के भीतर आत्मदेव विराजमान हैं, अत सचेतन मानव का मन्दिर में जाकर पाषाण की मूर्ति का दर्शन अनावश्यक है, व्यर्थ है' इस प्रकार का अतिरेक पूर्ण अनिष्ट करता है। कहते हैं धर्मान्ध यवनो के शासन में बादशाह ने मौलवी से पूछा कि कुरान में सारभूत सब सामग्री है या नही ? यदि उसमे सब कुछ है, तो अन्य किताबो के रूप मे कचरा रखना व्यर्थ है। कुरान-भक्त मौलवी ने कुरान में समस्त वस्तुओ का अपूर्व सग्रह कहा, तो इस्लाम भक्त बादशाह ने लाखों ग्रथो की होली मचवा दी। अध्यात्म के अविवेकी भक्त भी कहते हैं सब द्वादशाग वाणी में समयसार शास्त्र मात्र सार है। अन्य ग्रंथ तो भूसा के समान हैं। ऐसे अध्यात्मिक मौलवी की राय के अनुसार कोई नायक आचरण करे, तो कितना अनर्थ हो जायगा, स्याद्वाद की मनोज्ञ वाटिका उजड जायगी। सारा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा

र

(५८) चचल मन जब एक विषय को जानते २ मन्द जाना है। तब आगमज्ञ मुनीन्द्र उसे ज्ञान के अन्य अगों में लगाते हैं। वे जानते हैं यदि इस मन को क्षण भर भी छुट्टी दे दी, तो यह कल्पनातीत उत्पात कर डालेगा। अत मन पर पवित्र ज्ञान का निरतर अकुश आवश्यक है। विविध सुरभि सम्पन्न सुमनो से समलकृत स्याद्वाद के उद्यान का भ्रमर बननेवाला मुमुक्षु दुष्ट विकल्पों का नाश करता हुआ आत्म चिन्तन के कार्य म स्थिरबुद्धि होता है।

गौतम स्वामी पहले जैन शास्त्रों को दोष पु ज समझा करते थे। महावीर तीर्थंकर के पादमूल में उनकी दृष्टि विकाररहित हो गई, अत समस्त जिनागम उनके लिए अमृतसिधु सदृश बन गये। जिसकी बुद्धि उलझी हुई है, उसे जिनवाणी मधुर नही लगती है। विशिष्ट क्षयोपशम-धारी तथा निकट भविष्य म मोक्ष प्राप्त करने वाली आत्मा को समस्त जिनवाणी सुखद लगती है। कल्याणपूर्ण प्रतीत होती है।

वाद्य-वादन कला मे अन्य व्यक्ति द्वारा बजाया गया वाद्य बहुत कटु लगना है, किन्तु सप्त स्वरो का मर्मज्ञ जब उस वाद्य को बजाता है, तब पशु तक हर्षित होत है। इसी प्रकार सप्त स्वर सदृश सप्त दृष्टि समन्वित जनेश्वरी वीणा के मधुर सगीत को सुनकर मुमुक्षु वग का मन मयूर नृत्य करने लगना है। एक ही स्वर को सदा बजानेवाला ज्ञानीजनों के प्रेम को नही प्राप्त करता है। सम्यक्त्वी जीव द्वादशाग वाणी का भक्त रहता है, उसम तथा एक ही यान को ठीक मान शेष आगम को व्यथ मानने वाले तथा स्वय को जिनेश्वर का लघुनन्दन समझने वाले मानमूर्ति मानव में इतना ही अन्तर है जितना कि हस म तथा बकराज मे। स्थूल स्थितिमें दोनो समान लगते हैं कि तु उनकी अन्तरग प्रवृत्ति म अपार अन्तर है। हस तुल्य मानव शास्त्र के प्रकाश मे जीवन को विशुद्ध बनाता हुआ, असत्प्रवृत्तियो के परित्याग निमित्त उद्यत रहता है तो बकवृत्ति वक्की व्यक्ति शास्त्र का आश्रय ले स्वेच्छाचारिता तथा विषय सेवन का पोषण करता फिरता है। कवि की यह उक्ति अत्यन्त मार्मिक है —

(३) प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोगरूप जिनवाणी का स्वाध्याय करना चाहिए।

(४) दान, पूजा, शील तथा पर्व में उपवासरूप श्रावक के लिए निर्धारित आचार का पालन करना चाहिए। महापुराण मे कहा है —

दान पूजा च शील च दिने पर्वण्युपोषितम्।
धर्म चतुर्विध सोयमाम्नातो गृहमेधिनाम्॥

उपरोक्त चार बातो को सदा ध्यान में रखना चाहिए। उपरोक्त सदाचार का पालन मुमुक्षु का कर्तव्य है। सदाचार का भाव यही है कि वह सदाचार बातो को दृष्टि पथ मे रखे।

(६२) समस्त मुनीन्द्र जिन गणधर देव के चरणो को प्रणाम कर रहे हैं, उन गणधर गौतम ने धर्म के विषय मे यह कथन किया है —

धम्मो मगल मुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो।
देवावि तस्स पणमति जस्स धम्मे सयामणो॥

अहिंसा, सयम तथा तपरूप धर्म श्रेष्ठ मगल है। जिसका मन सदा धर्म में लीन रहता है, उसको देवगण प्रणाम करते हैं।

सयमादि की समाराधना के द्वारा जीव को ऐसी मनोभूमिका प्राप्त होती है, कि वह आत्मा ज्ञानज्योति से आत्मनिधि को प्राप्त कर लेती है। विषयासक्त जीव आत्मोन्मुखता शून्य बनता है। पुद्गलोन्मुख बनकर इन्द्रियो के पोषण मे अपने नरभव के अमूल्य काल को नष्ट करनेवाले अज्ञानी को आत्मोपलब्धि किस प्रकार होगी? जिनागम की यह देशना है कि जीव को विषयो की दासता मे समय नष्ट न करके आत्मचिंतन द्वारा स्वरूप की उपलब्धि करना चाहिए। त्याग धर्म के द्वारा आत्मा विषयों की सेवा से छुट्टी पाता है, तब वह अपनी सच्ची आराधना के योग्य मनोभूमि का निर्माण कर सकता है।

(६३) आत्मार्थी भव्य जनो को अपने हृदय से विचारना चाहिए कि वे विषयार्थी नही हैं। मुमुक्षु हैं। उनको भोगाराधना द्वारा अपने हाथ पाव बाधनेवाला जाल बुनना योग्य नही है। ज्ञानहीन क्रिया की जो

त्याग होता था, अब उसको भी लोग भूल रहे हैं अत उस मौलिक सदाचरण को स्वीकार करने के साथ सर्वत्र शक्तिभर उसका प्रचार हितकारी है जब तक कोई वस्तु सेवन म न आवे, तबतक उसका त्याग सरलता से किया जा सकता है । रोगादि के कारणरूप पदार्थों का त्याग उचित है। अनुपसेव्य वस्तुओ आदि का भी सकल्प पूवक परित्याग वाछनीय है। इस विषय में अपने कतव्यका ज्ञान करने के लिए पुरुषाथ सिद्ध्युपाय, रत्नकरड श्रावकाचार तथा सागार धमामृत आदि शास्त्रो का समयसार के समान प्रेम, आदर तथा परिश्रम पूर्वक स्वाध्याय, मनन तथा चितवन लाभकारी है, सयम के शास्त्रों का भी आदर आवश्यक है । एकान्त का जिद्द छोडना हितकारी है ।

(९५) इस पाप प्रचुर, भोग विलासयुक्त वातावरण मे सकल सयम की उज्ज्वल आराधना करन वाले तथा ३६ दिन पयन्त अपूर्व सल्लेखना द्वारा नर जन्म रूप कनक भवन के शिखर पर कलश लगाने वाले पूजनीय विभूति चारित्र चक्रवर्ती आचाय शान्तिसागर महाराज का सदा स्मरण कल्याणदायी है। उनके चित्र को प्रत्येक आत्मार्थी को अपने समीप रखना चाहिए । उनके जीवन मे रत्नत्रय धम का प्रकाश विद्यमान था । अपने को सम्यक्त्वी मानकर अहङ्कार मूर्ति बनने वालो के द्वारा भुलावे मे न फँसकर अपनी आत्मा के परम कल्याण हेतु आचाय महाराज के जीवन से सम्यक् श्रद्धा तथा सदाचरण के लिये अ त प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। उन गुरुदेव ने कहा था—आत्मचिंतन किए बिनाय कभी भी मोक्ष नही मिलेगा अत कम से कम पन्द्रह मिनिट पय त सकल्प विकल्प को छोड प्रतिदिन आत्मचिंतन करना चाहिए । इसके द्वारा दशन मोहनीय नष्ट होता है, तथा सयम धारण करने से चारित्र मोहनीय नष्ट होता है। इस पकार मोहनीय के क्षय के लिए उद्योग करना चाहिए ।

(९६) जन साधारण अध्यात्म शास्त्र की विशिष्ट भाषा के रहस्य को नही जानते, अत उनके प्रबोध हेतु उनको हिंसानन्द, परिग्रहानन्द आदि आर्त रौद्र ध्यानो से बचने का उपदेश देना आवश्यक है । उपदेश समझ मे आने योग्य होना चाहिए ।

(६७) समस्त संकटों के नाश करनेवाले पंच परमेष्ठियों की भक्ति हेतु बाल वृद्ध सभी के मनमें णमोकार मंत्र की प्रतिष्ठा स्थापित करनी चाहिए। इस अपराजित मंत्र के द्वारा दुःखी समाज में शांति, संतोष तथा बंधुत्व के भाव जगाए जा सकते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा तत्काल नहीं तो क्रमशः जीवन सम्यक्त्व आदि आत्म गुणों से समलंकृत हो जायगा। प्रत्येक मुमुक्षु को वीतराग की भक्ति रूपी गंगा में डुबकी लगा कर अपनी आत्मा को विशुद्ध तथा प्रसन्न बनाना चाहिए।

(६८) स्वप्न में संपत्ति वैभव तथा प्रभुता का स्वामी बननेवाला निर्धन जागने पर धनवान नहीं बनता है। संपत्तिशाली बनने के लिए उसे कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसी प्रकार मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति भी तपश्चर्या आदि परिश्रम की अपेक्षा रखती है। स्वप्न साम्राज्य के स्वामी के समान "अहं सिद्धात्मा, अहं ज्ञानचेतनाधिपति, सकल-कर्म कलंक विमुक्ताहं, परमानंदस्वरूपाहं" ऐसा कुछ क्षण चिंतवन करने के पश्चात् शरीर, इंद्रिय, कामिनी, कंचन आदि की सेवा में संलग्न हो कृष्णलेश्यादि की भयावह मुद्रा स्वीकार करनेवाले की उस गजराज सदृश स्थिति होती है, जो स्नान के अनंतर ही अपने शरीर को धूलिपुंज से मलिन बनाता है। आध्यात्मिक स्वप्न दूर होते ही सिद्धात्माओं के समीप बैठनेवाला यह जीव बहिरात्मा बनता हुआ पतित प्राणियों की पंक्ति में बैठकर भिक्षुक तुल्य प्रवृत्ति करता है।

(६९) कर्मों के सम्राट मोह का क्षय करने के लिये अपार आत्मशक्ति का संचय आवश्यक है। यह कार्य शिशुवत् स्वच्छंद प्रवृत्ति द्वारा संपन्न नहीं होता है। भोगी व्यक्ति स्वयं मोह के जाल में फँसा हुआ मोहके चरणों को चूमा करता है। वह क्या मोह का क्षय करेगा? योगी, विरागी तथा त्यागी ही कर्मों का नाश करता है।

(७०) नाटकके नरेश द्वारा साम्राज्यकी उपलब्धि तथा उसका रक्षण नहीं बनता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वी का अभिनय करनेवाले पुरुष के द्वारा निर्वाण साम्राज्य नहीं प्राप्त हो सकता। जीवन गुलाब के पुष्पों की शय्या नहीं है। "Life is not a bed of roses"। जीवन संग्राम भूमि

है। पराक्रमी वीर ही उसमें जयश्री प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् की बात है। विलासी, विषयलोलुपी, मनयमी व्यक्तियों के द्वारा आत्मा की शक्ति का नाश होता है। जितेन्द्रिय व्यक्ति लौकिक तथा आध्यात्मिक सफलताओं का स्वामी होता है।

(७१) जो लोग सम्यक्त्व की महिमा गाते हुए यह कहते हैं कि सम्यक्त्व के अनन्तर संयमादि धारण करना चाहिए, वे यह नहीं सोचते, कि जबतक सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हुई है, तब तक किस प्रकार जीवनचर्या रखी जाय? क्या आगम में कहीं ऐसा लिखा है कि यदि सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हुई है और यदि किसी सत्पुरुष ने प्रतिमा रूप नैष्ठिक के व्रत के लिये अथवा समस्त पापों का त्यागकर परम अहिंसामयी मुनि पदवी धारण कर ली, तो इसमें उस जीव की कुगति हो जायगी और वह दुःखी हो जायगा? ऐसा एक भी वाक्य नहीं मिलेगा।

(७२) त्रिलोकसार गाथा ५४७ में बताया है कि मिथ्यात्वसेवी काजी भोजी पाखंडी आजीवक सम्प्रदाय के साधु व्रतादि के आश्रय से सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं, तब जिनशासन की आज्ञा को शिरोधार्य कर हिंसा, असत्य, अब्रह्म, स्तेय तथा परिग्रहादि का त्याग कर प्राण-पण से शक्ति भर उज्ज्वल जीवन व्यतीत करनेवाली आत्मा क्यों हीन स्थिति को प्राप्त होगी?

(७३) अतएव परम्परा से प्राप्त समस्त जिनागम के सकल प्रकाश में अपनी मलिन धारणाओं का संशोधन कर जीवन को विशुद्ध करने के पथ में प्रवृत्ति करनी चाहिए। प्रयत्नशील विवेकी व्यक्ति यशस्वी होता है। कवि की यह वाणी हृदयंगम करने योग्य है —

> गाढ़ गह्यो लोहा तिर्यो कहा माह वहा चोर।
> अजन भया निरंजना सेठ वचन के जोर॥

अतएव देव गुरु तथा शास्त्र के विषय में अविचलित श्रद्धा की जागृति अत्यन्त आवश्यक है। इस श्रद्धा के अभाव में आत्म विद्या की उपलब्धि आकाश के पुष्पों के मुकुट सदृश असद्भावात्मक है।

(७४) जिस तरह एकान्त क्षणिकवाद, एकान्त नित्यवाद स्याद्वाद दृष्टि के प्रतिकूल होने से अपरमार्थ है, इसी प्रकार अध्यात्म का एकान्तवाद भी

अपराध रूप है। अध्यात्म शास्त्रों का स्पर्श करते ही अपने को जीवन-मुक्त समझनेवाले भाइयों को यह नहीं भूलना चाहिये कि स्याद्वाद का तीक्ष्ण शस्त्र उस आत्मा के एकान्तवाद की उसी प्रकार योग्य चिकित्सा करता है, जिस प्रकार उसके द्वारा तीन सौ त्रेसठ कुवादों की मरम्मत की जाती है। यह अनेकान्तरूप चक्र यदि अविवेकी के हाथ में आ गया और उसने यथा विधि इसको न चलाया तो उसके द्वारा स्वयं का संहार होना अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

(७५) व्यवस्थित ढंग से तलवार चलाने की कला को बिना सीखे यदि कोई अजानकार चमचमाती नंगी तलवार लेकर घुमाता है, तो वह स्वयंकी मृत्युका कारण बन जाता है। इसी प्रकारकी स्थिति अकुशल हाथों में स्याद्वाद चक्र द्वारा उत्पन्न होती है। निश्चय का एकान्त पक्ष धारण करने वालों को तथा व्यवहार को ही एक मात्र साध्य माननेवालों को यह बात स्मरण करना चाहिये कि स्याद्वाद चक्र किसी भी एकान्त पक्ष का विनाश करने में चुप नहीं रहेगा। अमृतचन्द्र सूरिका कथन है —

अत्यन्त निशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥

जिनेन्द्र का नयचक्र अत्यन्त तीक्ष्णधार युक्त है। वह कठिनता से प्राप्त होता है। तथा धारण किये जाने पर वह मिथ्याज्ञानियों के मस्तक को खंडित करता है।

(७६) इस जिनेन्द्र के नयचक्र को हाथ में ले महाज्ञानी आचार्य समन्तभद्र, तार्किक अकलंक, प्रभाचन्द्र आदि ने अनेक एकान्तवादियों के अन्तःकरण में स्याद्वाद शासन की प्रतिष्ठा स्थापित की है। उन आचार्यों की वाणी से पूर्णतया अपरिचित तथा अज्ञान सिन्धु में अवगाहन को अक्षमयनावाला व्यक्ति उनके कथन की उपेक्षा कर अपने अज्ञान पर सुन्दर आवरण डालता हुआ नहीं सोचता कि वह अपना तथा अपने भक्तों का कितना अहित कर रहा है। अहोरूप तथा ध्वनिरूप प्रणामी का मोक्ष मार्ग में कोई स्थान नहीं है। मुमुक्षु वर्ग का कर्तव्य है कि द्वादशांग वाणी के दर्पण में अपना मुख देखकर मलिनता का संकोच छोड़कर निर्भय हो

परित्याग करे । यश मोहवश अपने को ही सत्य का स्वामी समझनेवाले ज्ञाता सर्वज्ञ जाने किस पर्याय मे जाकर कैसे रूपमें कर्मफल को भोगेंगे हम भविष्यका बिना विचार किए थोडी सी देर के अहंकारके वशीभूत ऐसा जटिल कर्मों का जाल बुन लेते हैं, कि उससे सागरो पर्यन्त भी नही छुटता है । एकान्त पक्ष वालो को कम से कम अपनी आत्मा पर दया करनी चाहिए । यह धारणा कि सत्य का स्वरूप कुन्दकुन्द स्वामी के बाद मेरी ही समझ में आया है तथा मेरे शिष्य ही निकट भविष्य मे मोक्ष जावेंगे, भयावह है । इसस बढकर मिथ्यात्व का उदाहरण खोजने के लिए पर्याप्त परिश्रम करना होगा ।

(७७) कोरा व्यवहार पकडनेवाला व्यक्ति सदाचरण के प्रसाद से नरक तिर्यंच मे नही जायगा, किन्तु अध्यात्मवाद के नशे में मग्न, हिंसादि महापापो से अपना सम्बन्ध रखा, तथा अपने मलिन काय को अकलंक समझ, किस गति की शोभा बढायगा यह प्रत्येक विवेकी विचार सकता है । आज की आवश्यकता यह है कि महापापो तथा दुर्व्यसनों से भोले जीवो को विमुख कराया जाय । उच्च तत्वज्ञान चर्चा करनेवाले स्वय हृदय पर हाथ रखकर सोचें कि वे कितने पानी मे है । प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि कवि के इन दिव्य विचारो के प्रकाश द्वारा अपने अन्तःकरण को आलोकित करें ।

ऐसो श्रावक कुल तुम पाय वृथा काहे खोवत हो ॥टेक॥
कठिन कठिन कर नरभव पाई, तू नखो आसान ।
धरम बिसार विषय मे राचो मानी न गुरु की आन ॥वृथा०॥१
चक्री एक मतग जु पायो तापर ईंधन ढोवे ।
बिना विवेक बिना मति ही के अमृत सों पग धोवे
काहू शठ चिन्तामणि पायो मरम न जाना तास ।
वायस देखि उदधि में फक्यो फिर पाछे पछताय
सात विसन आठो मद त्यागो करुना चित्त विचारो ।
तीन रतन हिरदे में धारो आवागमन
'भूधर' कहत सुनो भाई भविजन चेतन अब तो
प्रभु को नाम तरन-तारन जपि कम

परित्याग करें । यश मोहवश अपने को ही सत्य का स्वामी समझनेवाला ज्ञाता सर्वज्ञ जाने किस पर्याय में जाकर कैसे रूपमे कमफल को भोगेगा ? हम भविष्यका बिना विचार किए थोडी सी देर के अहकारके वशीभूत हो ऐसा जटिल कर्मों का जाल बुन लेते हैं, कि उससे सागरो पयन्त पीछा नहीं छूटता है । एकान्त पक्ष वालो को कम से कम अपनी आत्मा पर तो दया करनी चाहिए । यह धारणा कि सत्य का स्वरूप कुन्दकुन्द स्वामी के बाद मेरी ही समझ में आया है तथा मेरे शिष्य ही निकट भविष्य मे मोक्ष जावेगे, भयावह है । इससे बढकर मिथ्यात्व का उदाहरण खोजने के लिए पर्याप्त परिश्रम करना होगा ।

(७७) कारा व्यवहार पकडनेवाला व्यक्ति सदाचरण के प्रसाद से नरक तिर्यच में नही जायगा, किन्तु अध्यात्मवाद के नशे मे मग्न, जिसने हिंसादि महापापो से अपना सम्बन्ध रखा, तथा अपने मलिन काय को अकलक समझ, किस गति की शोभा बढायगा यह प्रत्येक विवेकी विचार सकता है । आज की आवश्यकता यह है कि महापापो तथा दुर्व्यसनो से भोले जीवो को विमुख कराया जाय । उच्च तत्वज्ञान चर्चा करनेवाले स्वय हृदय पर हाथ रखकर सोचे कि वे कितने पानी म हैं । प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि कवि के इन दिव्य विचारो के प्रकाश द्वारा अपने अन्त - करण को आलोकित करें ।

ऐसो श्रावक कुल तुम पाय वृथा काहे खोवत हो ॥टेक॥
कठिन कठिन कर नरभव पाई, तू लखो आसान ।
धरम बिसार विषय म राचो मानी न गुरु की आन ॥वृथा०॥१॥
चक्री एक मतग जु पायो तापर ईंधन ढोवे ।
बिना विवेक बिना मति ही के अमृत सो पग धोवे ॥वृथा०॥२॥
काहू शठ चिन्तामणि पायो मरम न जानो तास ।
वायस देखि उदधि मे फक्यो फिर पाछे पछतात ॥वृथा०॥३॥
सात विसन आठों मद त्यागो करुना चित्त विचारो ।
तीन रतन हिरदे में धारो आवागमन निवारो ॥वृथा०॥४॥
'भूधर' कहत सुनो भाई भविजन चेतन अब तो सम्हारो ।
प्रभु का नाम तरन-तारन जपि कर्म फन्द निरवारो ॥वृथा०॥५॥